राधास्वामी दयाल की दया ! राधास्वामी सहाय !!

सत् पुरुष हुजूर महाराज के चरण कमल में

प्रार्थना

१–सर्व समरथ साइयाँ, भव द्वन्द मेटन हार।
अगुण सगुण अमोह अविचल, सकल जगदाधार ॥ १ ॥

२–अजर अमर अपार अद्भुत, अगम अलख अमान।
तुम्हरे चरण सरोज में प्रभु ! ज्ञान गम की खान ॥ २ ॥

३–जीव निबल अनाथ आरत, सहत बिपत कलेस।
अपने मिहर से बंध काटो, ले चलो निज देस ॥ ३ ॥

४–तरन तारन नाम धारा, आये जीव के [illegible]
चरन शरन में सब पड़े हैं, राखो उन की लाज ॥

५–हाथ फेरो सीस पर और, इन की पकड़ो बाँह।
राधास्वामी सतगुरु ! यह, पड़े भव जल माँह ॥ ५ ॥

भूमिका

हना सहज है परन्तु करना बहुत कठिन है। इससे अति सुगम दूसरों को उपदेश और सम्मति देते रहना है और इससे महा कठिन स्वयं उस उपदेश और सम्मति के अनुसार चलना है।

एक आदमी बीमार पड़ता है। बच्चे से लेकर बड़े तक उसको दवा बताते रहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि संसार वैद्यों, डाक्टरों और हकीमों से भर गया है जो आता है एक न एक दवा बताता ही आता है। बीमार बेचारा घबरा जाता है। वह सुने तो किसकी सुने! और माने तो किस किसकी माने! परिणाम यह होता है कि जैसे यह उपदेश या सलाह देने वाले होते हैं वैसा ही बीमार होता है।

पकी बातचीत होती है वैसा ही उसके साथ व्यवहार जाता है और दोनों एक दशा में आजाते हैं।

हम लोग संसार में करते क्या हैं? दूसरों को दिन रात उपदेश देते रहते हैं भाई! औरों की तो मैं नहीं कहता, उपदेश देते देते मैं आप उकता गया। अब जी नहीं चाहता कि मुँह खोलूँ। अब यह विचार रहता है कि आँख, मुँह और कान तीनों बन्द रहें और केवल अपने आपके सुधार का ध्यान रहे। इसलिये घर बार छोड़कर जंगल में भाग आया। अकेला रहता हूँ और वही उपदेश जो दूसरों को दिया करता था अब अपने आप को देता रहता हूँ। यह ठौर ठिकाने की बात है और मन भी कहता है कि यही काम बनाने का ढङ्ग है।

नानक साहिब कहते हैं:—

तीन बन्द लगायकर, सुन अनहद टनकोर।
नानक सुन्न समाध में, नहीं साँझ नहिं भोर॥

कमाल जी कबीर साहिब के लड़के का कथन है:—

तीन बन्द लगाय कर, नाम निरंजन बोल।
बाहिर के पट देइ कर, अन्तर के पट खोल।

एक और महात्मा कहते हैं:—

आँख कान मुख मूँद कर, कर आपे का ध्यान।
तुरतहि अनहद शब्द की, भनक पड़ेगी कान॥

मैं कहता हूँ:—

मन बानी कर्म सोध ले, शब्द सुरत अभ्यास।
जग में सुख आनन्द है, अन्त परम पद बास॥

कबीर साहिब का वचन है:—

अपने उरझे उरझियाँ, देखे सब संसार।
अपने सुरझे सुरझियाँ, यह गुरु ज्ञान बिचार॥

फिर कबीर साहिब ही की वाणी है:—

मन ही को परबोधिये, मन ही को उपदेस।
जो यह मन बस आवई, तो शिष्य होय सब देस॥

मैं तो अब थक थकाकर इस पर आ रहा हूँ। काम तो जीवन में करना ही है। इसलिये हिन्दी का सन्त निकलता है। यह अब औरों के लिये चाहे उपदेश का कारण न हो परन्तु मैं तो इसके द्वारा अपने आपको उपदेश दे रहा हूँ। और लोग पढ़ें लाभ उठायें, अच्छी बात है परन्तु वास्तव में यह मैं अपने लिये लिख रहा हूँ।

उपदेश का अर्थ है—'उप' (निकट) और 'देश' (जगह देश या स्थान के निकट ही रहना उपदेश है। अब मैं जो कहूँ

हूँ उस पर आरूढ़ होने का ध्यान रहता है। कौन इधर उधर के झगड़े में पड़े। अब अपने आप के गढ़ने का विचार रहता है।

जो जलता है वही दूसरों को जलाता है। जलती हुई लकड़ी दूसरी लकड़ियों में आग लगाती है। जो प्रकाशवान है वही औरों को भी प्रकाश देता है और अँधेरे को मिटाता है। जलता हुआ दीपक ही उजाला कर सकता है। यह मेरा विचार और अनुभव है। अब जीवन को विचारानुसार और कथनानुसार बनाने का नित्य ध्यान रहता है।

कहो नहीं और कर दिखाओ। जिस को कर दिखाना है वह आप तुमको देखकर कर दिखायेगा और सहज ही में सफलता अवश्य प्राप्त होगी यही कारण है कि अब मैंने जंगल में आकर आसन जमाया और डेरा डाल लिया। अब मैं अकेला हूँ। पास कोई भी नहीं है मैं हूं—मेरा मन है और मेरा अपना विचार है। अब यहाँ उपदेश का आनन्द आरहा है और मैं बहुत प्रसन्न हूँ।

"पर उपदेश लोग बहुतेरे"
निज उपदेसहिं सो न घनेरे॥"

एक स्त्री अपने लड़के को लिये हुये स्वामी रामकृष्ण जी परमहंस के पास आकर बोली, 'भगवान्! यह लड़का गुड़ बहुत खाता है। नित्य ही रोग ग्रसित रहता है। इसे कहिये गुड़ खाना छोड़ दे।" महात्मा जी ने उत्तर दिया, "माई! एक सप्ताह पीछे आना तब इसे समझाऊँगा।" वह सात दिन व्यतीत हो जाने पर आई। परम हँस जी ने लड़के की ओर मुँह करके कहा बेटे! आज से गुड़ न खाना। यह रोग की जड़ है।' लड़का बोला, 'बहुत अच्छा महाराज! आज ही से उसे छोड़ दूँगा। अब मेरी माँ को कहने सुनने का अवसर न मिलेगा।' वह माई

इस उपदेश और उसके तत्काल परिणाम को देखकर चकित हो गई। उसने पूछा, 'भगवान्! यही बात आप पहिले कह दिये होते। एक सप्ताह क्यों लिया?' आपने उत्तर दिया, 'सुन माई! जब तू आई थी मैं आप गुड़ खाया करता था और मेरे पास गुड़ भी रक्खा हुआ था। उस समय मैं लाख कहता यह मानने वाला नहीं था। यह अपने मन में कहता—'आप तो यह गुड़ खाता है और मुझे उससे रोकता है।' इस सात दिन में मैंने गुड़ नहीं खाया। उसे छोड़ दिया। इसलिये यह मेरी बात झटपट मान गया है।'

यही दशा उपदेश की भी है। मैं अब ऐसा हो रहा हूं और हो चला हूं। यह 'भगवत् गीता' की वाणी नहीं है। यह 'निज बीती' की कथा है। अपनी बीती गीता गस्ती से अच्छी होती है। मैं तो इस पर आरहा। संत के पढ़ने वाले जैसा चाहें वैसा करें, उन्हें अधिकार है। इससे अधिक और क्या कहूं!

संत का यह नम्बर जाता है। इसमें परमार्थ [illegible] सम्बन्ध में ज्ञान, ध्यान, विवेक, विचार की बहुत सी च[illegible] जिनसे मनुष्य पमरार्थ के विषय को भली भाँति समझ कर अपने जीवन को साधन सम्पन्न बना सकता है। तुमको अच्छी लगें पढ़ो परन्तु उन्हें अपना अंग सङ्ग बनाकर अपने जीवन को सुधार के साँचे में ढाल लो तब तो ठौर ठिकान की बात है नहीं तो व्यर्थ और निरर्थक है।

शिवव्रत लाल

ता० २२ जनवरी सन् १९२५ } शिकारपुर (सिन्ध)

राधास्वामी दयाल की दया ! राधास्वामी सहाय !!

परमार्थ सुधार

पहिला अध्याय

परमार्थ क्या है ?

कुण्डलियां

परमारथ का सार, साध कोइ बिरला जाने

१—बिरला जाने साध, करै सतगुर की सेवा।
सेवा के परताप, मिटै सब भर्म का भेवा ॥ १ ॥
२—भेव भेद को त्याग, न राखे मन में शङ्का।
धर विवेक चित माँह, चढ़ै त्रिकुटी गढ़ लङ्का ॥ २ ॥
३—लङ्का चढ़ दसशीस, रजोगुण रावण मारे।
कुम्भकरण तम त्याग, विभीषण सत् को धारे ॥ ३ ॥
मेघनाद को जीत, शब्द के चढ़े बिमाने।
परमारथ का सार. साध कोइ बिरला जाने ॥ ४ ॥

परमार्थ क्या है ? परमार्थ संस्कृत के दो शब्दों 'परम' (बड़ा) और 'अर्थ' (उद्देश) से निकला है। जो मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा उद्देश है उसी को परमार्थ कहते हैं।

मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश क्या है ? मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा उद्देश यह है कि वह दुखों से पूर्ण रीति से मुक्ति हो जाये और सुख के अतिरिक्त उसकी दृष्टि और किसी ओर न रहे यह सुख अखण्ड अपार और अनन्त हो, स्वाधीन हो, स्वाभाविक हो और बिना किसी की सहायता के उसे इस प्रकार प्राप्त हो जाये कि फिर कभी उसे दुख का खटका चित्त में न आने पाये और चाहे

वह किसी दशा में रहे परन्तु सुखी और आनन्दित रहे । यह परमार्थ है । इसके अतिरिक्त और कोई भी परमार्थ नहीं है ।

इस विषय में सारे शास्त्र, वेद, पुराण, योगी, ज्ञानी और ऋषि मुनि की एक ही सम्मति है । शास्त्र कहते हैं:—"सर्व्व दुःख निवृत्ति परमानन्द प्राप्ति पुरुष पुरुषार्थः" अर्थात् 'सारे दुखों का अन्त कर देना और सबसे बड़े सुख को प्राप्त करना मनुष्य का मुख्य उद्देश है ।'

परमार्थ की समझ तो इस संक्षेप कथन से भली भाँति आगई होगी । अब यदि किसी और बात में भेद है तो यह है कि उसके प्राप्ति के साधन क्या हैं ? अगले अध्यायों में यह बात बड़ी उत्तमत्ता के साथ समझाई जायेगी जिसका सङ्केत कुण्डलिया में दे दिया गया है ।

दूसरा अध्याय

सुख

कुण्डलियां

सुख परमारथ सार, सार लख पावे कोई

१—लख पावे कोइ पुरुष, जो होय सयाना ।
तज अज्ञान विकार, विचारे गुरु का ज्ञाना ॥ १ ॥
२—ज्ञान ध्यान के संग, परम पद आसा लावे ।
आसा मन में लाय, शून्य पद जाय समावे ॥ २ ॥
३—शून्य समाध लगाय, दसम दर पाट खुलाई ।
मन के सकल विकल्प, त्याग करे शब्द कमाई ॥ ३ ॥
४—शब्द में बृत्ती जोड़, रूप है उसका सोई ।
सुख परमारथ सार, सार लख पावे कोई ॥ ४ ॥

सुख क्या है ? सुख अपने रूप और स्वरूप का नाम है । यह संस्कृत धातु "सु" (अच्छा) और "ख" (इन्द्री, आकाश, ज्ञान, आनन्द, शून्य, अन्तरीक्ष, विन्दु, काम, ब्रह्म, आत्मा इत्यादि इत्यादि) से निकला है। इस के मौलिक अर्थ पर विचार करो तो अभी तुम्हारी समझ में आजाये कि तुम्हारे आत्मस्वरूप के अतिरिक्त और कोई वस्तु सुख नहीं है। तुम आप अच्छे ब्रह्म, अच्छे ज्ञान, अच्छे आनन्द और अच्छे आत्मा हो।

तुम भ्रम में पड़ कर और वस्तुओं में सुख ढूँढ़ते हो । कोई धन में सुख खोजता है। कोई पुस्तकों के पृष्ठों में आनन्द का खोजी है, कोई स्त्री प्रसङ्ग में सुख ढूँढ़ता है। यह भूल है और भ्रम की बातें हैं परन्तु यदि विचार करो तो सुख के समझने का मूल तत्त्व समझ में आजाये। तुम क्यों प्रत्येक वस्तु में सुख की खोज करते हो ? इसका कारण यह है कि सुख तुम में है और प्रत्येक काम में उसी का व्यवहार हो रहा है। यदि तुम में सुख न होता तो इन वस्तुओं में तुम्हें सुख का विश्वास भी न होता। पानी की मछली [illegible] का रूप बनी हुई पानी ही में प्रसन्न रहती है। इसी प्रकार तुम [illegible] मुद्र की मछली और सुख के रूप बने हुये सुख ही की खोज में दिन रात पड़े रहते हो। थोड़ा सा भ्रम है और वह भी केवल नाम मात्र है। कस्तूरिया हिरन समझता है कि सुगन्धि उसे बाहिर से मिल रही है और वह उसे ढूँढ़ता हुआ इधर उधर मारा मारा फिरता है। वास्तव में कस्तूरी और उसकी सुगन्धि उसमें और उसकी नाभि में है। इसी प्रकार तुम भी सुख के हिरन हो और इधर उधर सुख के भ्रम में नाना प्रकार के व्यवहार और व्यौपार करते रहते हो। तुम को अपनी सुध नहीं रहती है। बेसुधी में यह काम काज हो रहे हैं और इसमें बुरा क्या है ? जो जैसा है वैसा ही तो करेगा और करता रहेगा। आग से गर्मी और पानी से ठण्डक को किसने अलग किया है ? इसी प्रकार तुमसे और

तुम्हारे निज स्वरूप से सुख के भ्रम, विश्वास और विचार को कौन दूर सकता है। न ऐसा कभी हुआ न होगा और तुम किसी समय भी सुख से अलग और पृथक् नहीं हो सकते। यह तो तुम्हारा आत्मस्वरूप, तुम्हारा स्वभाव और तुम्हारा रूप है। गुण सदैव गुणी ही में तो रहते हैं। वह और कहाँ रहेंगे।

जो कुछ करते बने, हाथ पाँव मारते हुए करते चलो। हम उसे बुरा नहीं कहते। हाँ थोड़ा सा अज्ञान है, उसे पालो और वह भी केवल नाम मात्र है। अज्ञान वास्तव में है नहीं इस अज्ञान के वश में आकर तुम चंचल बन गये हो। चंचल हो, अपने अनुभव को बढ़ाते चलो। भली भाँति हाथ पाँव मारो। अन्त में आप ही समझ जाओगे कि जिसकी खोज में मारे मारे फिरते थे वह क्षण मात्र के लिये भी तुमसे अलग नहीं था और न अब अलग है।

तीसरा अध्याय

धन

कुण्डलियाँ

सुख का चिन्तन यों करो, जैसे लोभी दाम।

१. जैसे लोभी दाम, चित्त वाही में राखे।
गड़ा ख़ज़ाना ख़ाक में, नित धन धन भाखे ॥ १ ॥

२. धन धन भाखे लालची, चिन्ता धन की राख।
धन दौलत की चाह है, यह गति मन की आख ॥ २ ।

३. यह गति मन की आख, रात दिन धन का ध्याना।
धन की लालच में फँसा, हर दम अज्ञाना ॥ ३ ॥

४. अज्ञाना को लालसा, धन से रखता काम।
सुख का चिन्तन यों करो, जैसे लोभी दाम ॥ ४ ॥

धन के कमाने में हर्ज नहीं। परिश्रम और यत्न करो। व्योपार और उद्यम से काम रक्खो। नौकरी चाकरी को न छोड़ो केवल इतना समझ लो कि धन तुम्हारे लिये है और तुम धन के लिये नहीं हो और बस! हम तुमको परमार्थ समझा देंगे।

परन्तु यदि यह समझ नहीं है तो फिर समझने में कुछ देर लगेगी और इस दशा में भी हम तुम पर तरस खाकर समझाने से पीछे न हटेंगे।

धन बिना परिश्रम हाथ नहीं आता। उसके लिये भी साधन के साथ मन की गढ़त करनी होती है सबका सहना और सुनना पड़ता है और इस पर भी उसमें अपना कोई वश नहीं। पूरा पूरा धन बड़ी कठिनाई से किसी बिरले ही को प्राप्त होता होगा।

धन मिलता है परन्तु कठिनाई से मिलता है और जितना ही मिलता है उतनी ही लालसा भी बढ़ती जाती है। सैकड़ों वालों का हज़ारों की, और हजारों वालों को लाखों की, और लाखों वालों को करोड़ों की इच्छा रहती है। कभी सन्तुष्टता आती।

लालसा और लालच के हाथ पाँव सँभालते ही मनुष्य धन को भोग भी नहीं सकता। इधर उसके वियोग और छिन जाने का भय, उधर उसका भोग भी प्राप्त नहीं, दोनों ही बातें दुखदाई हैं और यह मनको बहुत ही चंचल बना देती हैं। यह एक बात है।

धन मिल गया। अब वह डरा कि उससे कहीं छीन न लिया जाये। चोर का डर, सम्बन्धियों के धोके का भय, हाकिमों के अत्याचारों का खटका, अहलकारों के घूस लेने का ध्यान! यह सब अनेक प्रकार के भय और दुख के कारण

होते हैं। न किसी का विश्वास, न किसी का भरोसा। ऐसा मनुष्य नीचा और अधम हो जाता है—"चमड़ी जाय तो जाय परन्तु दमड़ी न जाय।" यह दूसरी बात है।

धन वालों का मन प्रायः अपवित्र और मलीन होता है। उसके मन में पवित्रता शुद्धता और निर्मलता नाम मात्र भी नहीं होती। वह पशु के पशु बने रहते हैं। उनमें मनुष्यत्व का अभाव होता है। धन द्रव्य हाथ को काला करता है। धनके रात दिन के सुमिरन से मन भी मलीन और काला हो जाता है जब धन कमाने से छुट्टी मिले तब तो वह मन के सँवारने और सिंगारने की ओर ध्यान दें और मनमें निर्मलता आये, "न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।" यह तीसरी बात है।

धन वाले धूर्त, झूटे और चापलोस होते हैं। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि वह जने जने के वशीभूत और दास बने हुए हैं। भय है कि किसी की दृष्टि उनके धन पर न पड़े। इसलिए डरपोक होकर झूठ की हाँक लगाते, और चापलोसी करते रहते हैं। सबके समान उनकी आँख झपा करती है। यह अपराधीनता बहुत बुरी है। इससे बढ़कर और क्या बुरी [redacted] सकती है?

धन कमाओ परन्तु धन ही को सब कुछ न समझो। यह कहने का अभिप्राय है।

चौथा अध्याय

इन्द्रियाँ

कुण्डलियाँ

सुख का चिन्तन यों करो, जैसे कामी काम।

१. जैसे कामी काम, कामिनी को चित धारे।
सोये जागे बैठे, उठे न ताहि बिसारे॥ १॥

सोते देखे स्वप्न, रहै मन में वहि खटका ॥ २ ॥
३. खटका नित खटकत रहे, खटक न चितसे जावे।
त्यागे जग व्यवहार, और कुछ मन नहिं लावे ॥ २ ॥
४. मन नहिं लावे आपने, कामिन उसकी राम।
सुख का चिन्तन यों करो, जैसे कामी काम ॥ ४ ॥

हम को जो यह इन्द्रियाँ मिली हैं उनका कुछ न कुछ प्रयोजन भी है। वह यों ही नहीं मिली हैं। उनके न होने से काम काज में हर्ज हुआ करता है। यह आवश्यक हैं परन्तु बहुत से जीव ऐसे होते हैं जो रात दिन उन्हीं के भोग विलास के ध्यान में मग्न रहते हैं। इनको इन्द्रियों के सुख के अतिरिक्त और किसी का ध्यान नहीं होता।

यह इन्द्रियाँ क्या हैं? यह केवल साधन मात्र हैं। इन में न सुख है और न यह सुख के रूप हैं। यह विशेष प्रकार के सुख के साधन हैं। इसलिये बहुत से लोग इन्हीं को सब कुछ समझ लेते हैं और इन ही के पीछे पड़े रहते हैं।

किसी को भोजन के स्वाद में आनन्द आता है। वह चिटोरा होता है। किसी को कनरस में सुख प्राप्त होता है। किसी को अच्छे दृश्य देखने में विशेष आनन्द मिलता है। किसी को सूँघने की, किसी को छूने की धत होती है। यह पाँच ज्ञान इन्द्रियों के काम हैं। इसी प्रकार किसी किसी को काम की धुन बराबर लगी रहती हैं।

जो जिह्वा के स्वाद में लम्पट होते हैं वह कुत्ते के सदृश निर्लज्ज हैं। कामी को बदनामी का भय लगा रहता है। वही दशा हर इन्द्री के स्वाद की है। बदनामी और निर्लज्जता में सुख कहाँ? इनका परिणाम दुख होता है। इसी प्रकार और इन्द्रियों के विषय में भी समझ लो

इन सब में काम की इन्द्री महा बलवान होती है । कामातुर मनुष्य को उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सूझता। यह कोई नहीं कहता कि मनुष्य इन्द्रियों का व्यवहार न करे । इन्द्रियाँ व्यवहार ही के लिये हमको मिली हैं परन्तु इनके रूप को न समझ कर उन्हीं का हो रहना भूल और भ्रम है । जो मनुष्य आवश्यकता से अधिक इन से काम लेता है वह स्वास्थ्य से हाथ धो बैठता है और अपने मन, बुद्धि और शरीर को बिगाड़ लेता है । जहाँ इन में से किसी में भी दोष आया तो फिर वही दुख रूप हो जाते हैं।

काम अंग के रात दिन पीछे पड़े रहने से एक तो शरीर के व्यवहार में दोष आ जाता है और जहाँ तराजू का कोई पल्ला नीचे की ओर झुका या ऊँचे की ओर चढ़ा फिर समता का अभाव हो जाता है। अन्त में शान्ति और सुख का कोसों पता नहीं रहता ।

कामी मनुष्य बिना समझे बूझे हिंसक हो जाता है। लज्जा तो उसमें नाम मात्र भी नहीं होती । वह दूसरों की बदनामी और उनके हानि पहुंचने का कुछ भी ध्यान नहीं रखता । हिंसा बहुत बड़ा पाप है और ऐसे पापियों का उद्धार शीघ्र नहीं होता

कामी पुरुष में स्वार्थ साधन का अंग भी प्रबल होता है। स्वार्थसाधन मन की मलीनता का नाम है। यह मलीनता उस पर अपना प्रभाव डालकर उसमें पशुवत भाव वैसे ही उत्पन्न कर देती है जैसे माँस खाने वाला पशुओं के माँस के प्रभाव को अपने अंग संग बनाकर क्रोधी, लड़ाका और चंचल हो जाता है । सच्ची बात तो यह है कि कामी मांसहारी से भी बहुत नीचे गिर जाता है।

लड़ाई होती है। झगड़े मोल लिये जाते हैं। अनेक प्रकार के उत्पात मचते रहते हैं जो अन्त में जीवन को दुखदायी और निकम्मा बना देते हैं।

जिस मनुष्य का व्यय उसकी आमदनी से अधिक है उसे बुद्धिमान कोई नहीं कहता। देवालिया हो जाता है और ठिकाने से बेठिकाने बन जाता है। यही दशा मनुष्य के वीर्य्य की भी है। यदि वह अधिकता के साथ पतन होता रहेगा तो शरीर भी निर्बल हो जायेगा। दुर्बलता और अबलता आती जायेगी। सर चकरायेगा, हाथ पाँव में कपकपी रहेगी। बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी। देखने सुनने चखने, सूँघने और छूने की शक्ति जाती रहेगी। अंग प्रति अंग ढीले और बेकाम हो जाँयेंगे। किसी एक इन्द्री के पीछे लगे रहने से सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी और अनेक प्रकार के रोग धर दबायेंगें। फिर उसका लोक परलोक कुछ भी न सुधरेगा।

यह सारी इन्द्रियाँ स्वयं कुछ भी नहीं हैं। क्रिया शक्ति जो इनमें प्रतीत होती है वह इनकी अपनी नहीं हैं। यह किसी और वस्तु की धार से जीवित रह कर काम काज करती रहती हैं। जहाँ धार खिंच गई या उसमें कमी आगई तो यह फिर बेकाम हो जाती हैं। यदि न माना तो अपनी कलाई-पर सूत का धागा बाँधकर देख लो या किसी की मूर्च्छित अवस्था पर विचार करके अनुभव करलो। आवश्यकता से अधिक इनका व्यवहार करना भूल है। 'एक नारी सदा ब्रह्मचारी, बहु नारी सदा व्यभिचारी।' अपने सच्चे सुख के भाव को इनके अर्पण न करो किन्तु इन्हें साधन समझ कर समय समय पर इनसे काम लेने की युक्ति सोचो, तब तो बात है नहीं यो अपनी बहुत बड़ी हानि कर बैठोगे!

पाँचवाँ अध्याय

मन (नं० १)

कुण्डलियां

सुख का चिन्तन यों करो, जैसे मन सङ्कल्प

१—जैसे मन सङ्कल्प, रूप औरन को धारे।
होय जाय वहि रूप, आपना रूप बिसारे ॥१॥
२—अपना त्यागे रूप, और का रूप बनावे।
भृङ्गी कीट समान, कीट भृङ्गी ह्वै जावे ॥२॥
३—भृङ्गी बन कर कीट त्याग पृथ्वी को उड़ता।
अपना नाता तोड़, उसी की ओर वह मुड़ता ॥३॥
४—मुड़ता सब सङ्कल्प ले, तजा विकार विकल्प।
सुख का चिन्तन यों करो, जैसे मन संकल्प ॥४॥

जैसे इन इन्द्रियों द्वारा शारीरिक व्यवहार होते रहते हैं वैसे यह हमारा मन भी है। इसका दर्जा इन्द्रियों से बड़ा है। यह इन्द्रियों का हाकिम है। इन्द्रियाँ इसी के आधीन रहती हैं परन्तु यह भी स्वतन्त्र नहीं हैं। यह भी किसी बड़ी शक्ति के आधीन है। इन्द्रियाँ स्थूल हैं। यह सूक्ष्म है। यह इन दोनों में भेद है। से का सेनापति सिपाहियों का हाकिम है। यदि उसमें इस पदवी के ग्रहण करने की योग्यता है तब तो वह सच्चा हाकिम है और यदि सेनापति पर सिपाही अपना प्रभाव डाल कर अपनी इच्छानुसार काम कराते रहते हैं तो उसमें हाकिम बनने की योग्यता नहीं है। ऐसे सेनापति की ओर से राजा को बराबर खटका लगा रहता है।

इस मन में यह गुण है कि वह जिसे देखता, सोचता और सुमिरता है उसी का रूप हो जाता है। काँच के प्याले में जिस

रङ्ग का पानी भर दो वह उसी रङ्ग का दिखलाई देता है। पानी गिरा दो तो फिर वह अपने असली रङ्ग में आजाता है जो एक दम उज्ज्वल और निर्मल है। यदि मन हरी वस्तु को देखता है तो हरा हो जाता है लाल रङ्ग को देखता है तो लाल ही बन जाता है। यही मन दुख में दुखी, सुख में सुखी, उदासीनता में उदास, निराशता में निराश, बन्धन में बद्ध, मुक्ति में मुक्त, पण्डिताई में पण्डित, खण्डन में खण्डित और मण्डन में मण्डित हो रहता है। रोने वाले को देखकर आँसू बहाता है। हँसने वाले को देखकर मुसकराता है। ज्ञान में ज्ञानी, ध्यान में ध्यानी, तप में तपस्वी, तेज में तेजस्वी, योग में योगी, भोग में भोगी, रोग में रोगी और सोग में सोगी यह तुम्हारा मन ही तो है। इसके अतिरिक्त और कौन है ? तुम इसके रङ्ग ढङ्ग; चाल चलन और बनाव सिंगार पर विचार करना तो सीखो। फिर जहाँ इसको समझ लिया आगे का काम बहुत ही सुगम हो जायेगा।

इसी नियम के अनुसार जब यह ब्रह्म उपासना, ब्रह्म चिन्तन करता है और ब्रह्म अर्पण हो जाता है तो फिर ब्रह्म ही बनकर चैन लेता है देखी, सुनी, मानी, जानी और सोची विचारी हुई बातों का रूप बन जाना इसका गुण ही ठहरा। यही माया में लम्पट होकर मायावी बन जाता है। यही छाया को पकड़कर छायावी हो जाता है। सिद्ध, शक्ति, बुद्धि, युक्ति सब कुछ इसी के आधीन हैं। हार जीत और बनने बिगड़ने का सम्बन्ध केवल तुम्हारे मन ही से है। लालची बनने से यह धन द्रव्य रखता हुआ भी कङ्गाल रहता है और सन्तुष्ट बनकर निर्धनता में भी मालामाल बना रहता है। कभी उड़ कर आकाश पर जाता है, कभी घुसकर पाताल में पहुँचता है। कभी स्वर्ग का आनन्द लेता है, कभी नर्क की हवा खाता है।

मन अन्तरी या भीतरी है और दूसरी इन्द्रियाँ बाहिरी हैं। यह अन्तर की इन्द्री है। इन्द्री तो इन्द्री ही है। यह शब्द संस्कृत धातु "इद्"(कठिनाई से वश में आने वाली) और "रा" (देने वाला) से निकला है। जो कठिनाई से वश में आवे और जो कुछ न कुछ देती रहे उसका नाम इन्द्री है। कहने का अभिप्राय यह है कि चाहे जो कुछ हो इसे अपने वश में करो और राजा के सदृश इसे अपना आज्ञाकारी बनाओ। यदि यह वश में नहीं है तो फिर तुम राज कर चुके। बिना कड़ाई किये हुये तुम इससे क्या लोगे ! तुमने यह मिसल सुन रक्खा होगा—"माँगे बनिया भेली न दे, मुँह में मारे अधेली दे।" भेली गुड़ की बट्टी को कहते हैं और अधेली नाम अठन्नी का है। जब तक इस बनिये का मुँह नहीं मारा जाता तब तक कुछ भी नहीं देता।

बहुत से लोग इसी मन की मानसिक और कल्पित बातों और सङ्कल्प विकल्प की घातों में पड़े रहते हैं। हाथ कुछ नहीं आता। गेहूँ और जव तो उड़ा देते हैं और भूसी को रख लेते हैं। क्या तुम भी ऐसा ही होना चाहते हो ? सावधान रहो ! इस मन के जाल में कभी न फँसो नहीं तो चंचल घोड़े के समान यह तुमको भयानक गड्ढे में मुँह के बल गिराकर छोड़ेगा। इसके गुण और रूप को समझो। इसमें प्रत्येक वस्तु के रूप धारण करने का गुण है यह जान कर उसे अपने सुख का साधन बनाओ और फिर यह उसी का रूप हो जायेगा।

छटवाँ अध्याय

(मन नं २)

कुण्डलियाँ

सुख का चिन्तन यों करो, जैसे पानी मीन[१]

१. जैसे पानी मीन, मीन तज नीर[२] न जावे।
कबहूँ होय बिछोह[३], जीव अरु[४] प्राण गँवावे ॥१॥

२. प्राण गँवावे आपना, पानी सों यों प्रीत।
यही सार है भक्ति का, यही प्रेम की रीत ॥२॥

३. यही प्रेम की रीत है, महा कठिन व्यवहार।
ऐसे ही सुख परमात्म[५] का, मन में रहे पियार ॥३॥

४. रहे पियार विचार तज, दीन अधीन प्रवीन[६]।
सुख का चिन्तन यों करो, जैसे पानी मीन ॥४॥

घोड़ा नियत स्थान तक पहुँचाता है। वह सवार या पथिक को सुख देता है और थकावट से बचाता है परन्तु यदि मूर्ख सवार घोड़े को बगटुट छोड़ दे या मन माने काम करने दे तो [redacted] दशा होगी कि वह जिधर हरियाली देखेगा उसी ओर ले भागेगा। राह और स्थान का एक दम ध्यान न रक्खेगा। सावधानता को भूल कर राह में अड़ता रहेगा और यदि उस के मन के विरुद्ध ऐड़ लगाई गई तो सम्भव है पाँव के बल खड़ा होजाये, फेंक दे और उसे गड़हे में गिराकर उसकी हड्डी पसली तोड़ दे।

एक साधारण उदारहण है। उदाहरण का केवल एक ही आवश्यक अङ्ग देखा जाता है और बस !

---

१ = मछली। २ = पानी। ३ = वियोग। ४ = और
५ = परमात्मा, ईश्वर। ६ = बुद्धिमान।

यह मन घोड़े के सदृश है। इस संसार में इसकी सड़क इन्द्रियाँ हैं इन्द्रियों का भोग विलास इसके पहुंचने का स्थान है। जिस रथ में यह जुता हुआ है वह मनुष्य का शरीर है। बुद्धि रथवान है और आत्मा उस पर सवार है। उपनिषद् ने कुछ ऐसा ही कहा है उसका ऐसा कहना केवल लोक व्यवहार की दृष्टि से है।

दूसरे ढङ्ग पर यदि यों कहा जाये कि यदि घोड़े की लगाम मोड़ दी जाये तो उसका नियत स्थान परमात्मा हो जायेगा और वह इधर से उधर फिर जायेगा। सारी बातें लगभग वैसी ही रहेंगी, केवल उसके पहुंचने का स्थान बदल जायेगा और इन्द्रियों के बदले अब उसके चित्त की वृत्ति सड़क बन जायेगी जिसके सहारे वह चलता हुआ सवार को परमात्मा की ओर ले जायेगा जो सच्चा सुख है और जिसकी व्याख्या हम आगे चल कर करेंगे।

जब यह मन संसारी व्यवहार करता है तो इन्द्रियों से काम लेता है और जब परलोक के काम में लगता है तो वृत्तियों ही की सहायता से उसे पूर्ण करता है। यह पहिले कह दिया गया है कि इन्द्रियों में सुख नहीं है। वह साधन मात्र हैं। यहाँ भी [illegible] और सोच लेना चाहिये कि वृत्ति या वृत्तियाँ सुख नहीं हैं। वह भी साधन मात्र हैं और जिस प्रकार इन्द्रियों के विषय भोग में भी अपने आत्मा के प्रतिविम्ब के अतिरिक्त और कुछ सुख नहीं है वैसे ही वृत्तियों के विषय भोग में भी आत्मा को छोड़कर और कोई सुख नहीं है। हम लोग कल्पित और मानसिक रीति से मान रहे हैं कि इन्द्रियों के काम से सुख मिलता है। ऐसे ही कल्पना द्वारा यह भी माना जा सकता है कि परमात्मा का सुख वृत्तियों के उसकी ओर मुड़ने से प्राप्त होता है। यह केवल मानने की बात है नहीं तो वास्तव में सुख इन्द्रियों के साधन में नहीं है सुख तो हम

में है और हम जैसे हैं वैसे हैं।

मन की वृत्तियाँ अनगिनत हैं। यह बाहिर भी काम करती हैं और भीतर भी। इन के विशेष नाम पाँच तत्वों की दृष्टि से अहङ्कार, काम, क्रोध, लोभ और मोह हैं। इन के साधन में अन्तरी सुख के प्राप्त करने का कल्पित ध्यान दिलाया गया है। और इसका कारण भी है।

अहङ्कार आकाश का रूप है। इस में सत्ता मात्र या सूक्ष्म अहंकार रहता है जो जीवन का विकाश है और जिसका तत्व (शब्द)है। काम वायु का रूप जो क्रियात्मक शक्ति अपने अन्दर रखता है और छूना उसका गुण है। क्रोध अग्नि का रूप है जो विकाश का चिह्न है। रूप उसका तत्व और सार है। लोभ पानी का रूप है जिसमें स्वाद का गुण रहता है। रस इसका तत्व है। मोह पृथ्वी का रूप है जड़ता इसका गुण है और गन्ध उसका तत्व है।

मन इन्हीं वृत्तियों में लिपटा हुआ संसारी होता है। और भी इसकी वृत्तियां हैं परन्तु यह मुख्य हैं। जब जब मन में जिस तत्त्व की अधिकता होती है तब तब यह इन तत्त्वों से मिला जुला हुआ इनके सूक्ष्म धार को लेकर अपना काम करता है और इन्द्रियों पर उनका प्रभाव डालकर व्यवहार करता है।

काम की व्याख्या ऊपर आ चुकी है। क्रोध के विषय में सब जानते हैं कि उसका परिणाम दुख ही होता है लालच बुरी बला कही जाती है।

मक्खी बैठी शहद पर, पङ्ख गये लपटाय।
हाथ मले और सिर धुने, लालच बुरी बलाय॥

मोह में फँसा हुआ मनुष्य निकम्मा और तुच्छ हो जाता है। अहङ्कार का सर सदैव नीचा रहता है। यह मन के इन तत्वों से उत्पन्न हुई वृत्तियों का परिणाम होता है।

यदि इन सब वृत्तियों का सुधार न किया जाय तो वह अड़ने वाले घोड़े के समान गड्ढे में गिराने वाली सिद्ध होती हैं। इस लिये इनकी गढ़त और सुधार आवश्यक है। इन्हें वश में रखकर काम करने से यह सुधर जाती हैं और इनको लेकर जब मन आत्मा की ओर मुड़ता है तो उसे सुख का अनुभव होता है। इनके साथ इसकी विचार वृत्ति भी सम्मिलित करली जाती है जो बुद्धि के मेल से उत्पन्न होती है।

जिसका मन सुख सागर आत्मा की मछली बन कर रहता है वह क्षण मात्र के लिये भी उसके वियोग को अच्छा नहीं समझता।

सातवाँ अध्याय

(कल्पना) विचार

कुण्डलियां

सुख का चिन्तन यों करो, ज्यों वृत्ती व्यवहार

१. ज्यों वृत्ती व्यवहार, धार जो मन से निक्सी।
जाय मिले जिस वस्तु से, वा से नहिं बिछुड़ी॥

२. वा से बिछुड़ी नाँह, उसी का रूप कहावे।
उसी की होकर रहे, उसी से नेह लगावे॥ २॥

३. नेह लगावे ब्रह्म से, वृत्ती ब्रह्माकार।
ब्रह्मानन्द का भान होय, सत् सङ्कल्प विचार॥ ३॥

४. सत् सङ्कल्प विचार से, गुण गह तजे विकार।
सुख का चिन्तन यों करो, ज्यों वृत्ती व्यवहार॥ ४॥

सारे ज्ञानी, ध्यानी और तत्व वेत्ताओं की सम्मति है कि यह संसार कल्पित है परन्तु कोई यह नहीं बताता कि यह क्योंकर

कल्पित है ! किसी किसी ने कल्पना को झूठा समझ रक्खा है। कोई कोई उसे मिथ्या बताता है। यह सच्चे हैं। और साथ ही झूटे भी हैं। सच्चे तो इस लिए हैं कि उनके शब्दों में सचाई है और झूटे इसलिए हैं कि जो कुछ कहते हैं उसकी उनको सच्ची समझ नहीं है। औरों से जो सुनते आये या पुस्तकों में लिखा हुआ देखा उसी के आधार पर वैसे ही हाँक लगाने लगे जो वास्तव में ही महा अनुचित है।

संसार को हम भी कल्पित मानते हैं और उसे मिथ्या समझते हैं परन्तु हम जो कुछ समझते हैं उसे सोच विचार और अनुभव द्वारा समझते बूझते हैं। जो लोग हमसे समझने आते हैं उन्हें सुगमता से चुटकी बजाते समझा भी देते हैं।

"कल्पना" के अनेक अर्थ हैं यह "कल्प" धातु से निकला है जिसका अर्थ है, 'योग्य होना'। इसी मौलिक अर्थ में उसका सच्चा अर्थ छुपा हुआ है। योग्य ही में योग्यता और योग्यता के प्रकट करने की शक्ति रहती है। यह कल्पना इस दृष्टि से योग्यता के प्रकट करने का ढंग है। चाहे वह सूक्ष्म रूप में प्रकट हो जाय या स्थूल रूप में। यही कल्पना है। इसके अतिरिक्त कल्पना और कुछ नहीं है।

यह संसार कल्पना मात्र है। ऐसा क्यों है? कारण यह है कि उसकी एक एक वस्तु से विशेष प्रकार के विचार प्रकट होते हैं। ऐसा क्यों होता रहता है? क्योंकि उसकी जड़ किसी विशेष विचार पर निर्भर है और विशेष विचारों ने विशेष रूप धारण कर रक्खा है। घड़े को देखकर एक विशेष विचार (भाव) मन में उत्पन्न होता है। छड़ी, लाठी और सोंटे को देख कर दूसरी ही बात सूझती है। सावधान मनुष्य को देखकर सावधानी का ध्यान आता है। इसी प्रकार चाँद, सूर्य्य, मनुष्य पशु और जड़ चैतन्य सब के विषय में समझ लो। यह सब के सब एक एक विचार

और भाव देखने वालों के हृदय में उत्पन्न करते हैं। जब इनके देखने ही से विशेष प्रकार का विचार मन में उत्पन्न होता है तो फिर हम इन्हें विचार के अतिरिक्त और क्या कहें ? भाई ! पक्षपात और हठधर्मी को छोड़कर तुम्हीं बता दो कि हमारी बात सच्ची है या झूठ है। परम संत कबीर साहिब की वाणी है:—

"जल देखे शुचि[१] ऊपजे, नारी देखे काम।
माया देखे मोह ऊपजे, साधू देखे राम॥"

पानी के देखने से पवित्रता का, स्त्री के देखने से काम का, माया के देखने से मोह का और साधू के देखने से राम का ध्यान आता है। यह इस दोहे का साधारण अर्थ है।

दूध से बने हुये पदार्थ में दूध का गुण रहता है। चीनी से बनी हुई मिठाई में मिठास का गुण रहता है इसी प्रकार कल्पना से बने हुये संसार और संसार के पदार्थों में कल्पना की सत्ता अवश्य होनी चाहिये। यहाँ ही तक क्यों जाते हो ? यदि तुम ईश्वर को भी देख लो तो उसके देखने से भी विशेष विचार उत्पन्न होगा और वह भी विचार और कल्पना मात्र ठहरेगा कोई मूर्ख ही इस बात से इन्कार करेगा कि ईश्वर भी कल्पित है जैसे ईश्वर की सृष्टि कल्पित है वैसे ही ईश्वर भी कल्पित है। इस साधारण और सहज प्रमाण से तुम समझ गये होगे कि यह संसार कल्पित है। देखो ! कैसी सुगमता से भ्रम दूर हो गया। मानों वह आकाश के फूल और बाँझ के लड़के के समान कभी मन में था ही नहीं। अब और आगे चलो।

यह जगत् मिथ्या है। वेदान्त उसे ऐसा ही बताता है। और हम भी उसे ऐसा ही मानते हैं परन्तु वेदान्त के सच्चे मन्तव्य को न समझने वाले अज्ञानी वेदान्तियों के सदृश हम

१=पवित्रता, शुद्धता, निर्मलता।

यों ही हाँक नहीं लगाया करते किन्तु सोच समझ कर तब किसी बात को मुख से निकालते हैं। मिथ्या संस्कृत धातु "मिथ्" (हानि पहुंचाने) से निकला है। यह प्रायः वही शब्द है जिससे अंग्रेजी का शब्द (Myth) निकला है। जो हानि पहुँचाये वह मिथ्या है। यह इस शब्द के मौलिक और यौगिक अर्थ हैं। झूट, असत् रूढ़ी अर्थ हैं परन्तु सच्चे अर्थ का पता जब लगेगा यौगिक अर्थ ही से ललेगा। यह संसार हानि पहुंचाता है। क्यों और किस प्रकार हानि पहुंचाता है? क्यों कि जब कभी उसकी कोई अल्पज्ञ अपूर्ण और कल्पित वस्तु आँखों के सामने आती है तो उसकी सर्व्वज्ञता और पूर्णता के भाव को धक्का पहुंचाता है। इस दृष्टि से यह मिथ्या है। क्या यह संसार ऐसा नहीं है? इसी की द्वन्द अवस्था ने हम में भेद भाव डाल रक्खा है। इसी दृष्टि से हम इसे मिथ्या कहते हैं।

अब दोनों शब्दों की संक्षेप परन्तु पूर्ण व्याख्या कर दी गई मानो तो वाह वाह! न मानो तो वाह वाह! मानो तो देव नहीं तो पत्थर! दाम लगाओ तो लाल नहीं तो कंकड़!

यह संसार कल्पित है। इसे देखते ही उसके कल्पित या मानसिक धार से जो भाव हमारे अन्दर उत्पन्न होता है वह सब का सब कल्पित है। कल्पना का खेल मन के सङ्कल्प विकल्प पर होता है। यह क्षण भङ्गी है। ऐसी दशा में ठहराव या निश्चलता नहीं है। इस दृष्टि से यह संसार और उसका सुख मिथ्या है।

आठवाँ अध्याय

वृत्ति

कुण्डलियाँ

सुख का चिन्तन यों करो, जैसे वृत्ति विवेक

१—जैसे वृत्ति विवेक, सार गहे तजे असारा।
बूँद लहर को छोड़, लहे सत् सिन्ध अपारा॥ १॥

२—सिन्ध अपार महान वह, सब का है आधार।
निराधार रह आप में, सब का उस पर भार॥ २॥

३—सब का उस पर भार है, भार को भार न जान।
भार अभार का द्वन्द लख, रह निर्द्वन्द समान॥ ३॥

४—रह निर्द्वन्द समान जब, व्यापे नहीं अनेक।
सुख का चिन्तन यों करो, जैसे वृत्ति विवेक॥ ४॥

यह संसार कल्पित है। यह बात कुछ कुछ समझ में आ गई। कल्पना (ख्याल) के चिन्तन या उसके मानसिक रूप के ध्यान में केवल कल्पित ज्ञान और सुख की सम्भावना है जो नाशवान है। इस चिन्तन को ध्यान भी कह सकते हैं और उसका नाम विचार भी हो सकता है। ध्यान सोचने और किसी वस्तु के रूप ग्रहण करते रहने का नाम है। विचार संस्कृत धातु "वि" (पहिले) और "चर" (चलने) से निकला है जो पहिले चले वह विचार है। पहिले चलने वाली वस्तु वृत्ति या धार है जो हमारे मनसे निकलती है पहिले यह चलती है और चलकर किसी वस्तु को छूती है, तब उसका ज्ञान होता है। वृत्ति का शब्द संस्कृत धातु "वृत्" (होने) से निकला है। जो हो और होने की योग्यता रखे वह वृत्ति है। इस मौलिक और यौगिक अर्थ की दृष्टि से वृत्ति का अर्थ उद्यम, ढङ्ग, नाटक का स्वाँग, दिखावा, व्याख्या, रहन सहन,

ठहराव, सिमटाव, इत्यादि सब कुछ है।

वृत्ति हमारे मन और इन्द्रियों मे धार के रूप में निकलती और किसी वस्तु को जाकर छूती, घेरती और तदाकार हो जाती है, तब उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। यह हम पहिले भी कह चुके हैं। जिस प्रकार किसी तालाब या सोते से पानी की धार निकल कर खेत की क्यारी में जाती है, और वैसा ही आकार धारण कर लेती है उसी प्रकार मन की वृत्ति इन्द्रियों की राह से निकल कर उस वस्तु को घेरती और तदाकार बन जाती है। जब तालाब या नहर का पानी क्यारी या खेत में गया तो क्यारी और खेत को घेर कर उसी के रूप का बन गया। इसी प्रकार मन की वृत्ति मन से निकल कर जब किसी वस्तु को घेरती और उसका रूप बन जाती है तब वह उसी के आकार की कहलाती है। आकार संस्कृत धातु "कृ" (बनने) से निकला है। जो बनता है वह आकार है। मन की वृत्ति जब ब्रह्म को छूती, घेरती और ब्रह्म के रूप की हो जाती है तब वह ब्रह्माकार कहलाती है। अभ्यास द्वारा वृत्ति में यह गुण उस समय आता है जब वह अनेक की ओर से मुँह मोड़कर किसी एक वस्तु में लग जाती है। तब जाकर उसका ज्ञान और ज्ञान का सुख प्राप्त होता है।

इस वृत्ति का पहिला साधन ध्यान है और दूसरा ध्यान की वस्तु के ग्रहण करने का है। तीसरा उस जैसा बनना है और चौथा उसका ज्ञान या सुख है।

जिस वस्तु का ध्यान किया जाता है वह कल्पित और मानसिक होता है और कल्पित वस्तु कल्पना या विचार के सदृश नाशवान होती है। इसलिये उसका ज्ञान और सुख भी वैसा ही होगा। विष्णु, की मानसिक मूर्ति के ध्यान करने वाले अपने अन्दर इसी वृत्ति के द्वारा विष्णु, की मानसिक मूर्त्ति बनाकर उसके ध्यान और उपासना से आनन्द प्राप्त करने की इच्छा रखते

हैं। थोड़ी देर तक के लिये सुख और आनन्द तो उन्हें मिल जायेगा, इसमें सन्देह नहीं परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या वह मूर्ति ठहरने वाली होगी और उसका सुख एक रस बना रहेगा ? जो वस्तु बनी है, बनती है या बनेगी वह बिगड़ी है, बिगड़ती है और बिगड़ने वाली होगी। उसका कोई विश्वास नहीं है और इसलिए उसे सच्चा और अखण्ड सुख समझना भूल है। जो मूर्ति को बनाता है वह उसे बिगाड़ भी सकता है। यह सभी जानते हैं। फिर ऐसी नाशवान वस्तु के आधीन हो रहना यदि भूल और भ्रम नहीं है तो फिर क्या है ?

धार्मिक दृष्टि से उसे जैसी मुख्यता चाहो दे लो, इस में कुछ हर्ज नहीं है परन्तु सच्चाई और परमार्थ की दृष्टि से वह क्या है इसकी समझ तुमको इस संक्षेप लेख के अवलोकन से आजानी चाहिए। यदि इस पर भी समझ में न आवे तो जान लो कि अभी तक मन की पूरी पूरी गढ़त नहीं हुई है। परमार्थ के समझने की योग्यता आने के लिए कुछ दिनों रुकना पड़ेगा और यह समझ सत्सङ्ग से आयेगी।

नवाँ अध्याय।

[सुख की जड़]

कुण्डलियाँ

सुख की जड़ निज रूप में, विरला जाने कोय
१—विरला जाने कोय, जिसे गुरु संग मिला है।
उसका मन निज रूप, मध्य में जाय पिला[1] है॥ १॥
२—मन जब पिला जाय, निज रूप लखे वह।
लख लख कर निज रूप, साँच सत बात भखे[2] वह॥ २॥
३—बात भखे वह जान, समझ औरन समझावे।
आप तरे भव सिन्ध, और दूजे को तरावे॥ ३॥

१—धँसा २—कहे

४—दूजा दिया तराय जो, सो परमार्थि होय।
सुख की जड़ निज रूप में, विरला जाने कोय ॥ ४ ॥

हम दिन रात के चौबीस घण्टों में तीन स्थानों में आते जाते रहते हैं यह जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति के मण्डल हैं। जागृत और स्वप्न साधारण शब्द हैं जिन्हें सभी जानते हैं। सुषुप्ति का ठीक २ उल्था किसी और भाषा में गहरी नींद के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। वास्तव में वह गहरी नींद नहीं है। वह अवस्था नींद से भिन्न और विपरीत है परन्तु जब और कोई सच्चे और पूरे भाव के प्रकट करने के लिये नहीं मिलता तो हम इन्हीं शब्दों से काम लेते हैं।

हम जागते हैं। यह जागृत अवस्था है, हम सोते हैं। यह स्वप्न है। हम नींद में बहुत ही अचेत और बेसुध हो जाते हैं यह सुषुप्ति या गहरी नींद है।

आँखों की खुली हुई अवस्था में शारीरिक व्यवहार में लगे रहने का नाम जागृत है। जागृत संस्कृत धातु "जागृ" (जागना) और सावधान व सचेत रहना) से निकला है। जागृत में आँखों की मुख्यता है। यह शरीर की परमावश्यक इन्द्री है जो शारीरिक व्यवहार में सदैव चौकन्ना रहकर सावधानता से काम लेती रहती है इसके काम का मण्डल सीमाबद्ध है और उसके व्यवहार में मानसिक शक्ति का मेल शरीर की दृष्टि से है।

आँखों के बन्द रहने की अवस्था में मानसिक व्यवहार करते रहने का नाम स्वप्न है। स्वप्न संस्कृत धातु "स्वप्" (सोने) से निकला है। इस दशा में शरीर तो जड़ हो जाता है। केवल मन अपने विशेष स्थान पर बैठकर मानसिक व्यवहार करता है। स्वप्न में मन की मुख्यता है और स्वप्न के मण्डल में मन ही की विशेषता है। मन उसके कारबार में लगा रहता है और देखने में शरीर से सम्बन्ध नहीं रखता। यहाँ उसके काम का स्थल शरीर की

अपेक्षा बहुत बड़ा है। मानसिक व्यवहार में मन का घना सम्बन्ध रहता है। इसलिए उसका क्षेत्र मन की मानसिक दृष्टि से बहुत लम्बा चौड़ा है। इस बात को साधारण समझ बूझ का मनुष्य भी विचार करने से समझ सकता है। मन अपने स्थान पर बैठ कर बिना किसी की सहायता या सहारे के ध्यान द्वारा सारी कल्पित वस्तुओं को अपने अन्दर उत्पन्न और प्रकट कर लेता है।

शरीर और मन की बन्द दशा में सुरत (रूह) के व्यवहार का नाम सुषुप्ति और गहरी नींद है। सुषुप्ति संस्कृत धातु "सु" (अच्छी) और "स्वप" (नींद) से निकला है। इसीलिए हमने उसे गहिरी नींद कहा है। इस अवस्था में शरीर और मन दोनों अचेत हो जाते हैं। केवल सुरत ही सुरत रह जाती है। सुषुप्ति में सुरत अपने स्थान पर बैठकर काम करती है और इस लिये यहाँ उसी की मुख्यता है। सम्भव है लोग पूछें कि सुरत का काम काज क्या है ? यह प्रश्न अनुचित नहीं है। इसका उत्तर यह है कि सुरत का भी काम काज और व्यवहार है और वह यह है कि सुरत अपने में आप रह कर सुखी रहती है। सुख का ज्ञान अपने अन्दर रखना यही उसका काम काज है। यदि वह सुख का काम काज न करती होती तो जागने पर हमको तुमको कभी यह ज्ञान न होता कि सुषुप्ति में हमको सुख मिलता है। यह इसका सर्वोत्तम और बहुत बड़ा प्रमाण है। सुरत का मण्डल शरीर और मन के मण्डल से बहुत बड़ा है। सुरत अपने आप में स्थिर और व्यापक रह कर अपने क्षेत्र या स्थल को बहुत ही लम्बा चौड़ा बना रखती है।

शरीर मन और सुरत के तीन मण्डलों का चित्र तुम्हारे सामने खींच दिया गया। शारीरिक मण्डल में मन स्थूल रूप से मिला रहता है। मानसिक मण्डल में मन के सूक्ष्म रूप का मेल रहता है परन्तु सुरत के मण्डल में मन का महा सूक्ष्म अंग

सम्मिलित रहता है। मन वहाँ भी रहता है क्योंकि यदि मन वहाँ न रहता होता तो फिर स्मरण शक्ति कैसे होती और सुषुप्ति से उठकर कोई मनुष्य कैसे कह सकता कि वह सुख की अवस्था है! इस लिये उसमें भी मन के महा सूक्ष्म अंग का मेल मानना ही पड़ेगा।

इस पर बहुत से सन्देह किये जा सकते हैं परन्तु हमारे पास सब के उत्तर हैं।

मन हमारे शारीरिक मण्डल में मध्य कड़ी है। ऊपर सुख है, नीचे शरीर है और बीच में मन है। वही तो है जो ऊपर नीचे और बीच में चक्कर लगाता रहता है। जब उसका सम्बन्ध शरीर के साथ है तब शारीरिक और जब वही मन के स्थान पर बैठता है तो मानसिक है। यह लोटन कबूतर के सदृश चक्कर काटता और लोट पोट करता रहता है।

जब मन शारीरिक मण्डल से ऊँचे चढ़ जाता है तो शरीर जड़ तो नहीं हो जाता, उसका संस्कार फिर भी शरीर में रहता है और वह अपने साथ शरीर के शारीरिक संस्कार ले जाता है। प्रमाण यह है कि स्वप्न अवस्था में भी वह सूक्ष्म इन्द्रियों से काम लेता और बहुधा शारीरिक व्यवहार करता रहता है। हाँ स्थूल शरीर बेकाम पड़ा रहता है। शरीर के सूक्ष्म अंग को वह फिर भी अपने साथ रखता है।

इसी प्रकार मन जब अपने मण्डल को छोड़कर सुख के मण्डल की ओर बढ़ता है तो सुषुप्ति में जाकर वह अपने कारण संस्कार को लिये हुए सुख में लय और लीन हो जाता है और जागृत के स्थान पर लौट आने पर उस के सुख की सूचना देता है।

सुख सुरत में है। सुख न शरीर में है न मन में है किन्तु सुरत के सुख के संस्कार मन द्वारा मन और शरीर में आकर

सुख के साधन में लगते हैं। सुख की जड़ सुरत में है क्योंकि सुरत में किसी प्रकार के दुख का भान नहीं होता। यहाँ इस अध्याय में केवल इतना ही समझाना चाहते हैं और यही सुरत तुम्हारा निज स्वरूप है।

दसवाँ अध्याय

सुरत क्या है ?

कुण्डलियां

निज सुख आतम राम में, सन्तन किया विचार

१. सन्तन किया विचार, खोजकर पता लगाया।
सत् चित् आनन्द भानु, रूप प्रकट ह्वै आया॥ १॥

२. रूप प्रकट ह्वै आया, रूप का किया विवेका।
तज अनेक मत वाद, चित्त में धारा एका॥ २॥

३. धारा एका, सोच समझ कर ज्ञान बताया।
यही एक है सार, और सब झूटी माया॥ ३॥

४. झूटी माया जानकर, जगत् पै डारी छार।
निज सुख आतम राम में, सन्तन किया विचार॥ ४॥

सुरत का पता सुषुप्ति में लगता है और उससे यह बात सिद्ध होती है कि वह सुख और आनन्द है। इसका प्रमाण यह है कि सुषुप्ति में न शरीर है, न मन है अकेली सुरत ही सुरत है और इसी सुरत में मन और शरीर की जड़ है। यह दोनों उसी के सहारे रहते हैं। यदि वह न होती तो इनका फिर कहीं पता भी न होता।

यह सुरत केवल सुख ही नहीं है किन्तु वह सत् और चित् (ज्ञान) भी है। सत्, चित् और आनन्द उसका गुण और रूप है। यदि उनको गुण मान लिया जाये तो यह तीनों उसी

के अधीन हैं और यदि इनको निजरूप (ज़ात) और सुरत मान लिया जाये तो वही सब कुछ है। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसको जानना, मानना और उसके प्रकाश में प्रकाशवान होना, उसके आनन्द में आनन्दित रहना, उस की सत्ता में सत्तावान होना परमार्थ है। यह "परमार्थ" के शब्द का संक्षेप परन्तु पूर्ण व्याख्या है।

इसी सुरत ने अपने तीनों गुणों के प्रकट करने के लिये तीन मण्डल बनाये हैं। शरीर के मण्डल में वह अपनी सत्ता को प्रकट करती है। मन के मण्डल में अपने विचार, ज्ञान और चित्पना को प्रकट करती है। और सुरत के मण्डल में आनन्द और सुख को प्रकट करती है।

परन्तु इन बातों से कोई यह न समझे कि शरीर से केवल सत्ता मात्र प्रकट होती है और मन से केवल ज्ञान और सुरत से केवल आनन्द का विकाश होता है। ऐसा समझना भूल होगी। विचारने से पता लगेगा कि शरीर में सत्ता के साथ ज्ञान और आनन्द का भी भान होता है। यदि यह शरीर सत्ता मात्र ही होता और ज्ञान और आनन्द से विहीन होता तो फिर उसमें इन दोनों बातों का भान कभी न होता और शरीर की ओर विशेष ध्यान देने वाले ज्ञान और आनन्द से विहीन होते। यह दशा नहीं है। यह शरीर ही तो है जो हमारे अनुभव और अनुसन्धान का सहायक बनकर और चित् को उभार कर हमको बुद्धिमान चतुर और विद्वान् बनाता रहता है और इस ज्ञान और विद्या के सिलसिले में हमको सुख प्रदान करता है। यह संसार क्या है? यह आप शरीर है। इसके एक २ परमाणु में ज्ञान और आनन्द का दृश्य दिखलाई देता है। यही कारण है कि शरीरवादियों को उसकी सहायता से थोड़ा बहुत ज्ञान और आनंद का भान होता रहता है। इसे असत्य कौन कह सकता है!

यह विषय बहुत ही स्पष्ट हो गया। शरीर में सुरत का प्रकाश है इसलिये उसमें सत्ता, ज्ञान पतना और आनन्द पना है। हाँ वह सत्ता ही के विकाश का विशेष मण्डल है। वह खुली आँखों से दिखलाई देता है। इसलिये इस दृष्टि से उसे सत्ता का विशेष मण्डल माना गया है।

इसी प्रकार मन समझ बूझ, सोच विचार और ज्ञान ध्यान का स्थल है। यह उसका गुण है परन्तु क्या उसमें सत्ता और आनन्द की छाया नहीं है ? यदि उसकी यह दशा होती तो फिर किसी को मनके होने का विश्वास कैसे होता और मन में आनन्द की खोज कैसे की जाती ? कौन मनुष्य है जिसे मन के रखने का विश्वास नहीं है ! और कौन पुरुष है जिसे मनमें या मनसे आनन्द नहीं प्राप्त होता !

बुद्धि और चातुरी के सारे कार वार, विचार और विवेक के सारे काम काज, कला कौशल की नई नई बातें इसी मानुषी मन के अनेक व्यवहार हैं और इन सब में सत्ता ज्ञान और आनन्द की झलक दिखलाई देती है। हाँ ! मन सोच विचार का विशेष स्थान है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

ऐसे ही यह सुरत सुख और आनन्द है परन्तु उसमें सत्ता और ज्ञान का अभाव नहीं है। जब आनन्द होगा तब ही तो उसका ज्ञान होगा और आनन्द का होना ही तो उसकी सत्ता का पता देता है जैसी सुषुप्ति से उठने पर हमारी दशा होती है। सुषुप्ति में हम जीते रहते हैं। वहाँ जाकर मर तो नहीं जाते। इसलिये हमारे सुरत की सत्ता है। हम उसके सुख नींद की सूचना भी देते हैं। इसलिये हमको उसका ज्ञान है और वह स्वयं सुख है और बिना किसी और की सहायता के सुख का प्रकाश करती है। इसलिये वह निर्बन्ध, निर्द्वन्द और स्वतन्त्र भी है।

यह बहुत ही स्पष्ट और सीधी सादी बातें हैं।

अब इतना और भी समझ लो कि जो ज्ञान है, वही सत् और सुख है जो सत् है वही ज्ञान और सुख है। जो सुख है वही सत् और ज्ञान भी है। तीनों वास्तव में एक हैं और एक ही तीन हैं। केवल विशेष २ मण्डल में विशेष गुण के विकाश के कारण तीन नाम गढ़े गये हैं नहीं तो इनकी कोई आवश्यकता नहीं थी। यहाँ तीन में एक और एक में तीन का मेल है।

इसीलिये वेदान्तियों ने सच्ची बात के समझाने के लिये तीन शब्द 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द' को मिलाकर एक 'सच्चिदानन्द' की परिभाषा गढ़ ली जिसमें उनके भाव की पूरी पूरी समझ आसके और सन्देह या भ्रम नाम मात्र भी न रह जाये।

सुरत 'सच्चिदानन्द' है। तुम सुरत हो और तुम ही 'सच्चिदानन्द' हो। सुरत 'आत्माराम' है और तुम ही 'आत्माराम' हो। अपने को अपने में खोजो और इसी खोज के कारबार, साधन, अभ्यास और उत्साह का नाम परमार्थ है।

ग्यारहवाँ अध्याय

सुखी रहने के लक्षण

कुंडलियाँ

इस जग में तुम यों रहो, ज्यों मुर्ग़ाबी नीर।
१. ज्यों मुर्ग़ाबी नीर, नीर में गोते खावे।
जल के बाहिर आय, न अपनो पंख भिगावे ॥१॥
२—पंख न भीगे कभी, रहे सूखे का सूखा।
जल थल एक समान, नहीं वह तृप्त न भूखा ॥२॥
३—तृप्त न भूखा नीर का, देयों उमर बिताय।
निश्चय पावें हंस गति, मानसरोवर न्हाय ॥३॥

४—मानसरोवर न्हाय कर, हंस न पावे पीर।
इस जग में तुम यों रहो, ज्यों मुर्ग़ाबी नीर ॥४॥

सुख का लक्षण जो संसारियों ने समझ रक्खा है वह दोष रहित नहीं है। यह किसी वस्तु को पाकर उसके साथ ऐसा घना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं कि वह उनके गले का हार हो जाती है। इसके वियोग के ध्यान का दुख उनको ऐसा चिमट जाता है कि इस वस्तु के मिलाप में भी दुख का बीज छुपा रहता है और मिलाप का भोग भी उनको प्राप्त नहीं होता।

सुख वास्तव में वह भोगते हैं जो सुषुप्ति की दशा के समान किसी वस्तु को पाकर भी उसके सङ्ग रहते हुये असङ्गपने की अवस्था को नहीं छोड़ते।

सङ्ग में असङ्ग रहना एक अवस्था है। सङ्ग में सङ्ग रह कर इस प्रकार उससे चिमट जाना कि वियोग से दुःख हो दूसरी अवस्था है। सङ्ग में सङ्ग करते हुये उत्तम सङ्ग की इच्छा में उत्तम वस्तुओं से चिमटते हुये उन्नति की राह पर चलना तीसरी अवस्था है। सङ्ग में संग रहकर उससे इस प्रकार चिमट कर रहना कि फिर कभी वियोग ही न हो चौथी अवस्था है। इन चारों अवस्थाओं पर विचार करने से सन्त मत के गूढ़ रहस्य की समझ आयेगी।

सङ्ग में असङ्ग और असङ्ग में सङ्ग को बहुत ही उत्तम गुण कहा जाता है। इसका नाम संस्कृत में 'शुद्ध' रक्खा गया है। इसकी दशा पानी के कमल जैसी है जो पानी में रहता है और फिर भी पानी से भीगता नहीं। यह अवस्था सब से उत्तम है और किसी किसी के हाथ आती है। मिथिला के राजा जनक में यही गुण था। यह योग और भोग का मार्ग है। जो बड़े ज्ञानी हैं उनमें यह गुण विशेष रूप से होता है। ऐसे मनुष्य को महा ज्ञानेश्वर और हंस कहते हैं।

सङ्ग में वियोग के दुख के संस्कार को मन में रखना और सङ्ग पाकर असंग की अवस्था से दुखी होना, दुखी हो जाना अर्थात् उस दुख का अनुभव करना साधारण जीवों का गुण और स्वभाव है। इनको 'बद्ध' कहते हैं। बद्ध नाम है बँधे हुये का जो इच्छा रूपी जाल में बुरी तरह फँस जाते हैं। न उन्हें भोग ही प्राप्त होता है और न योग ही की अवस्था हाथ आती है।

सङ्ग में सङ्गी से चिमट कर सर्वोत्तम आत्मिक दशा के आदर्श को मन में स्थापित करके विशेष भाव के साथ उसें भोगते हुये उससे भी अच्छी अवस्था की प्राप्ति का ध्यान रखना पन्थाइयों का लक्षण है। यह प्रेम का मार्ग है। इस राह पर चलने वालो को विचित्र स्वाद मिलता है जिसे और लोग नहीं समझ सकते। इनका नाम 'बुद्ध' है। बुद्ध समझ बूझवाले और विवेकी को कहते हैं जो सदैव उन्नति की राह में बढ़ता जाता है। इसमें पहिले पहल कुछ परिश्रम से काम लेना पड़ता है। थोड़े ही दिनों में जहाँ कुछ अभ्यास हो गया फिर दुख नहीं होता। अन्त में चलकर वह अपने आदर्श तक पहुँच जाता है जो उसका इष्ट और ध्रुवपद है। फिर उससे एक होकर वह उस पद को सुगमता से प्राप्त कर लेता है जो शुद्ध बताया गया है और जो महा ज्ञानेश्वरों की अवस्था कही गई है। यह साधु अर्थात् साधन करने वालों का मार्ग है।

आदर्श को भली भाँति समझ कर और संतों के सतसङ्ग से लाभ उठाकर मन के सारे भावों को उसी में लीन करके और मन बुद्धि के मण्डल से ऊपर आकर निज रूपता में सहज समाधि और सहज समाधि के रूप को अपने आश्रय समझ लेना अपने आपको अधिष्ठान या आधार के रूप में स्थित कर लेना सन्तों का लक्षण है। इसको सच्चा आदर्श कहते हैं जो आदि अन्त और मध्य में एक ही है। जिनमें यह गुण स्वाभाविक होते हैं वह परम संत

कहलाते हैं और जो कमाई करके उसे प्राप्त कर लेते हैं वह **संत** होते हैं। **परम संत** की गति उन्हें आगे चलकर प्राप्त हो जाती है। यह मुक्त दशा कहलाती है।

चारों अवस्थाओं में बद्ध अवस्था बहुत ही सोचनीय है।

शुद्ध, बुद्ध और मुक्त दशा प्रशंसनीय है।

शुद्ध दशा हंसों जैसी होती है। यह दो प्रकार की है एकतो योग और भोग दोनों का आनन्द लेते हुये **राजाजनक** की दशा अर्थात् विदेह मुक्ति को जीते जी प्राप्त कर लेना और दूसरी योग और भोग दोनों से असंग होकर **परम संत कबीर साहिब** के समान सहज अवस्था में रहना।

इन तीनों अवस्थाओं में केवल थोड़ा सा भेद है। अन्त में यह सब एक हो जाती हैं। राह में थोड़ा थोड़ा भेद है परन्तु आदर्श सबका एक ही है।

शुद्ध अवस्था का नाम सहज समाधि है। **कबीर साहिब** का एक शब्द प्रमाण के लिये नीचे लिखा जाता है जिससे पढ़ने वालों की समझ में यह बात भली भाँति आजाये।

शब्द

सन्तो ! सहज समाध भली

गुरु प्रताप भयो जा दिन से, सुरत न अन्त[1] चली (टेक)

१. आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ[2] काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ ॥१॥

२. कहूँ सो नाम सुनूँ सोइ सुमिरन, खाऊँ पिऊँ सो पूजा।
गृह[3] उद्यान[4] एक सम लेखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा ॥२॥

नोट:—१ = दूसरी जगह। २ = बन्द करूँ। ३ = घर। ४ = जंगल।

३. जहाँ जहाँ जाऊँ सोई पर करमा, जो कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा ॥३॥
४. शब्द निरन्तर[५] मनुआँ[६] राता[७], मलिन बासना[८] त्यागी।
उठत बैठत कबहुं न बिसरूँ, ऐसी ताड़ी[९] लागी ॥४॥
५. कहैं कबीर यह उन्मुनि रहिनी, सो परगट कर गाई।
दुख सुख के इक परे परम सुख, तेहि[१०] सुख रहा समाई॥५॥

इस अवस्था के प्राप्त होने की सम्भावना गुरू के शब्द से है। **सुरत शब्द योग** का सहज और साधारण साधन इस के प्राप्त करने में निश्चय रूप से सहायक होता है जिसकी व्याख्या आगे चलकर कहीं करदी जायेगी।

बारहवाँ अध्याय

सहज समाधि

कुण्डलियाँ

सबसों मिल जुल चालिये, रूप न अपनो त्याग
१—रूप न अपनो त्याग, रूप में स्थिर रहना।
भव की धार प्रवाह, वेग में कबहुं न बहना ॥ १ ॥
२ कबहुं न बहना धार, शान्त ह्वै निश्चल रहिये।
चंचलता को त्याग, चित्त को निश्चल करिये ॥ २ ॥
३—चित निश्चल कर लीजिये, साधन सों चित लाय।
जो कोइ साधे भक्ति को, प्रेमी सो कहलाय ॥ ३ ॥

५ = सदैव। ६ = मन। ७ = मस्त। ८–इच्छा ९ = समाधि! १० = उसमें

४—प्रेमी उनका संग कर, सुख निद्रा में जाग।
सब सों मिल जुल चालिये, रूप न अपनो त्याग ॥ ४ ॥

समाधि का अर्थ जो लोगों ने समझ रक्खा है वह असत्य तो नहीं है परन्तु यदि सच्चा गुरू न मिलेगा तो राह से बे राह होने का भय है। समाधि चित्त की वृत्तियों के एकाग्र करने का परिणाम है। योग की समाधि जो हट योग की सहायता से या सङ्कल्प शक्ति के दृढ़ करने से प्राप्त होती है वह विशेष रूप से सिद्धि और शक्ति का फल देती है। उस के फल देने का कारण यह है कि चित्त में कोई बासना रह जाती है और मन पूर्ण रूप से निर्मल नहीं होता। जहाँ समाधि से उत्थान हुआ और संसार का दृश्य आँखों के सामने आगया फिर उसके संस्कार से काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार और आशा तृष्णा का दोष आप ही आप उत्पन्न हो जाता है। बड़े बड़े योगी फिर संसारी हो जाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु संसारियों से भी नीचे गिर जाते हैं।

समाधि सङ्कल्प शक्ति की दृढ़ता और उसमें स्थिर रहने का नाम है। जहाँ ठहराव का ध्यान होगा वहाँ खिसकावट और गिरावट का भी भय रहेगा क्योंकि यह शब्द एक दूसरे की दृष्टि से हैं। जो चढ़ाई का विचार लेकर चढ़ेगा वह कभी न कभी अवश्य ही नीचे गिरेगा और उतरेगा। यह हम मानते हैं कि चढ़ने वाले में विशेष बल आजाता है परन्तु जो बल ऊपर चढ़ने में सहायक होता है वही नीचे मुँह के बल गिरा भी देता है और ऐसे गिरे हुये का सँभालना कठिन होता है।

बल तो बल ही है। बराबर खींच तान करते रहने से रस्सी के टूट जाने और गिर जाने का भय रहता है। जिस मनुष्य ने जितना ही बल के साथ रस्सी को खींच रक्खा है वह रस्सी के टूट जाने से उतने ही बल के साथ गिरेगा भी। यह

बात साधारण मनुष्य भी समझ सकता है। इसलिये यदि योग का भी साधन किया जाता है तो उसे समझ बूझ कर करना चाहिये। यदि योग का आदर्श समाधि है तो वह भी हानिकारक और भयानक है। यदि उस साधन के सिलसिले में सत् को आदर्श बनाकर उससे एक हो रहने का विचार है कि तब तो यह ठीक है।

साधन साधन ही है। वह स्वयं आदर्श नहीं है। तैरना किनारे पहुँचने के लिये है। तैरना आदर्श तो नहीं है। तैरना अच्छा है, तैरना बुरा नहीं है। वह काम की वस्तु है। इसी प्रकार यदि कोई तैरने वाला अपने तैरने की डींग मारता हुआ उसी में मस्त रहता है और आदर्श को नहीं समझता तो यह तैरना कभी न कभी उसे थकाकर पानी में डुबा देगा। जैसे साँप पकड़ने वाले सँपेरे बहुधा साँप ही के काटने से मर जाते हैं ठीक वैसे ही योग का साधन भी अनाड़ी योगियों के लिये हानिकारक होकर उन्हें रसातल को पहुँचा देता है।

विश्वामित्र ने तप का आदर्श नहीं समझा। उसी में अड़ गये और अंत में नीचा देखना पड़ा। **राजा बलि** ने दान ही को सब कुछ समझ लिया और **वामन** जी के उसी दान ने अभिमान से उन्हें पाताल को भेज दिया। हमारे पुराण ऐसे सङ्केतों से भरे हुये हैं। हाँ, कोई समझने वाला चाहिये। समझाने बुझाने के लिये यही दो उदाहरण बहुत हैं। योग की समाधि लगाने की भी यही दशा होती है। जिन्होंने बाबा **हरिदास** जी की कथा सुनी है जिसने पंजाब केशरी महाराजा रणजीतसिंह के समय में चालीस चालीस दिन की समाधि लगाई वह सुगमता से समझ सकेंगे कि इस योगी का अन्तिम परिणाम क्या हुआ।

बात कुछ है और लोग कुछ का कुछ समझते हैं। संसारी मनुष्यों की प्रशंसा पर न भूलो। यह आप कोरे हैं। इन्हें परमार्थ की समझ तक नहीं है और न यह सत् (सच्चाई) को जानते हैं। यह तो सिद्धि शक्ति पर लट्टू रहते हैं। यह सब बातें चित्त के एकाग्र होने से प्राप्त होती हैं परन्तु यह योग के आदर्श नहीं हैं। आदर्श तो कुछ और है और वह यह है कि सहज समाधि की अवस्था प्राप्त हो जो हमको स्वाभाविक अब भी प्राप्त है। केवल भ्रम का परदा पड़ा हुआ है और इसी भ्रम और भ्रान्ति के दूर करने कराने के लिये योग का साधन या जप तप का यत्न सीखना सिखाना पड़ता है। इस के अतिरिक्त इनका उद्देश यदि किसी ने और समझ लिया है तो जान लो कि वह लोक और परलोक दोनों से गया।

हम इसलिये नहीं पढ़ते कि जीवन पर्यन्त पुस्तकों के कीड़े बने रहें किन्तु पढ़ना गुनने के लिये है, गुनना मन्ने के लिये है। मन्ना मन्ने के लिये है और जन्ना अपने स्वरूप और अपनी सहज अवस्था में रहने के लिये है जो हम में अब भी विद्यमान है। गुनना सोचने विचारने को कहते हैं। पढ़ने से समझ बूझ आती है। मन्ना मानने का नाम है। मानना विश्वास को दृढ़ करने का सिद्धान्त है। इस दृढ़ता का नाम जन्ना या जानना है जिसे ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान और कोई वस्तु नहीं है। यह हमारा निज रूप है और अपने निज रूप में स्थिर रहना सहज समाधि है। सत्सङ्ग और संत समागम से लाभ उठाओ तब बात यह समझ में आयेगी और यदि कहीं हमारे गढ़े हुये शब्दों (गुनने, मन्न और जन्ने) में अटक गये और हम ही को अशुद्ध वक्ता कहने लगे तो फिर क्या समझोगे! संत विचार के प्रकट करने के लिये शब्दों की सहायता लेते हैं। वह शब्दों को आदर्श नहीं समझते।

सहज समाधि सहज वृत्ति को कहते हैं। सहज वृत्ति एक रस

होती है। गङ्गा बह रही है। कोई उसमें मलमूत्र डालता है, कोई फूल और चन्दन चढ़ाता है। न तो मल मूत्र वाले उसे अपवित्र कर सकते हैं और न फूल और चन्दन चढ़ाने वाले उसे शुद्ध और निर्मल बनाते हैं। वह तो जैसी है वैसी है। सूर्य्य की किरनें जहाँ मन्दिरों की मूर्त्तियों के साथ खेलती हैं साथ ही वह मल और मूत्र पर भी पड़ती हैं परन्तु न तो मूर्तियों के मिलाप से उन में पवित्रता आती है और न विष्ठा के सङ्ग से वह अशुद्ध होती है। आग जलती है। कोई उसमें सुगन्ध और नैवेद्य डालता है और कोई दुर्गन्धि। न वह किसी से प्रसन्न है न अप्रसन्न है। वह जैसी है वैसी है। वह नित्य ही अपने रूप में रहती है। इसी का नाम हमारे यहां सहज समाधि है।

यहाँ इस समाधि में विचित्र अवस्था रहती है जो अकथ और अपार है। वह न सुख है न दुख है, न शान्ति है न अशांति है, न निश्चलता न अचलता है। न उसमें एकाग्रता है न चंचलता है। वह क्या है? ऊपर के तीन उदाहरणों से तुम समझ सकते हो और यदि अभी यह बात समझ में नहीं आती तो कुछ दिनों तक अभी हवा खाओ। यत्न और साधन में लगे रहो। यत्न और साधन के पश्चात् जब किसी संत का सतसङ्ग प्राप्त होगा तब आप ही आप समझ जाओगे।

सहज समाधि सुख नहीं है क्योंकि सुख ही के पेट से दुख उत्पन्न होता है। सहज समाधि सुख से ऊँची अवस्था है परन्तु इसे ऊंचाई न कहना नहीं तो निचाई का भ्रम और खटका उत्पन्न होगा। सहज समाधि ज्ञान या जानना बूझना नहीं है। न वह ज्ञान है न अज्ञान, न समझ है न बेसमझी। यह ज्ञान से परे की वस्तु है परन्तु भूल में पड़कर उसे 'परे' न कहना नहीं तो 'वरे' का भ्रम लगा रहेगा।

वह है। उसके होने में सन्देह नहीं है। तुमको चाहे वह दिखाई न दे परन्तु हम तो उसे एक एक परमाणु, और एक एक बूँद में देख रहे हैं। केवल इनमें देख ही नहीं रहे हैं किन्तु अपने में अनुभव भी कर रहे हैं और केवल अनुभव ही नहीं कर रहे हैं किन्तु हम आप वही हैं। इससे अधिक और क्या कहें।

तुम्हारे समझाने बुझाने के लिये हम उसे परम सुख और परमानन्द बताते हैं। इससे उत्तम शब्द न हमें मिलते हैं और न हम जानते हैं। सङ्केत को समझ लो—फिर हम प्रसन्न, तुम प्रसन्न और हमारा तुम्हारा ईश्वर भी प्रसन्न। हम केवल इतना ही कह सकते हैं। पिछले अध्याय के भजन की अन्तिम कड़ी में परम संत कबीर साहिब ने उसी की ओर अङ्केत किया है:—

"सुख दुख के इक परे परम सुख, तेहि सुख रहा समाई"

इसी सहज समाधि का नाम निर्वाण है।

तेरहवाँ अध्याय

निर्वाण

कुण्डलियाँ

गुरू विवेकी जब मिलें, तब सूझे निर्बान
१—तब सूझे निर्वान, सैन कुछ समझ में आवे।
सैन बैन के बीच, सन्त कोई सार लखावे॥ १॥
२—सार लखावे संत, संत की सङ्गत करना।
हित अनहित को त्याग, संत के गह ले चरना॥ २॥
३. गह ले चरना संत, संत तेरे हितकारी।
राधास्वामी गुरुके चरन शरन पर, जा बलिहारी॥॥ ३॥

४. जा बलिहारी गुरू के, गुरू से ले निज ज्ञान।
गुरू विवेकी जब मिलें, तब सूझे निर्वान ॥४॥

"निर्वाण संस्कृत शब्द है जिसका शब्दार्थ है 'बुझजाना।' इस शब्द का प्रयोग वेदान्त, बुद्धमत, जैन मत और संत मत में अधिकता के साथ होता रहता है और साधारण रीति से इसे मुक्ति या कैवल्य अवस्था समझा जाता है। यह समझ बूझ ठीक भी है और ठीक भी नहीं है। यदि मुक्ति और कैवल्य अवस्था का भावार्थ सहज समधि है तब तो ठीक है। सहज समाधि की व्याख्या इसीलिये हमने पहिले ही कर दी है परन्तु यदि मुक्ति और कैवल्य अवस्था का अर्थ मुक्त होना और एकत्व भाव है तो ठीक नहीं है क्योंकि मुक्ति के साथ बंधन और अद्वेत के साथ द्वैत और अनेक का भ्रम लगा रहता है।

निर्वाण बुझने या बुझ जाने को कहते हैं। कौन सी वस्तु बुझती है? क्या जीवन का बुझ जाना है! यदि यह चिराग बुझा तो पगड़ी गायब हो जायगी। चिराग बुझा और पगड़ी गायब" उर्दू की एक प्रसिद्ध कहावत है परन्तु बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो इस कहावत के मूल कारण को जानते होंगे कहा जाता है किसी मुहफिल में नाच रङ्ग और गाना बजाना हो रहा था। लोग अच्छे अच्छे वस्त्र पहिन कर आये थे। उनकी पगड़ियाँ भी बहुमूल्य थीं। उनमें हीरे जवाहिर टके हुये थे। पहिले ऐसी ही पगड़ियों का रिवाज था। कुछ उचक्कों को दूर की सूझी। आपस में सम्मति करके लूट की ठहरा दी। भीड़ बहुत बड़ी थी। लड़भिड़ कर और हाथापाई करके निकल जाना कठिन था। यह सब बात चीत कर के झाड़ फानूस लैम्प और लटकनों के पास बैठ गये। इनमें से दो चार मशालची पर टूट पड़े। इधर मशाल बुझी उधर झाड़ फानूस इत्यादि बुझा दिये गये। इतनेमें उचक्कों ने सबकी पगड़ियों पर हाथ डाला और लप्पा डग्गी करते हुए नौ दो ग्यारह हो गये इधर यह

चलते हुये उधर लोगों को पगड़ियों के सँभालने की सूझी, परन्तु पगड़ियाँ थीं कहाँ ! "चिराग़ बुझा और पगड़ी ग़ायब' की कहावत उसी दिन से चली आती है।

इसी प्रकार यदि इस जीवन का चिराग़ बुझा दिया जाय तो पगड़ी ग़ायब होने के अतिरिक्त और क्या परिणाम होगा।

निर्वाण का अर्थ जीवन का चिराग़ बुझाना नहीं है। विद्वान और पंडित लोग उसका यही अर्थ समझते हैं। यह उनकी भूल है। यदि निर्वाण मर मिटने और मिट जाने का नाम है तो एक तोला अफीउन या आधा तोला संखिया चट कर जाओ। दम के दम में अभी तुमको मुक्ति मिली जाती है परन्तु यह याद रहे निर्वाण मर मिटने, मर जाने या आत्महत्या करने को नहीं कहते किन्तु इसके विरुद्ध वह सच्चा जीवन और अमर पद है।

फिर भी बुझना या फूँक मार कर उड़ाया जाता है! इसे सुन लो। एक मदारी आया। उस के हाथ में चिड़िया है। उसने कहा, "देखो मैं छू मन्तर के एक फूँक से इस पक्षी को अभी उड़ा देता हूँ।" उसने किया "फूँ" और चिड़िया ग़ायब न किसी ने उसे उड़ते देखा न छुपते देखा। फिर बात क्या हुई? बात यह हुई कि चिड़िया मदारी के हाथ में पहिले भी नहीं थी। उसने नज़र बन्दी से अपने हाथ की उँगलियों को चिड़िया बनाकर दिखा दिया था। छू मन्तर का तो बहाना था। लोगों की दृष्टि मदारी की दृढ़ सङ्कल्प शक्ति की ओर थी। उसने दृष्ट साधन द्वारा हाथ को पक्षी के रूप में दिखा दिया था। चिड़िया पहिले भी तो नहीं थी। अब कहाँ से रहती परन्तु देखा सब लोगों ने था। कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। ठीक इसी प्रकार सच्चे साधन और अभ्यास द्वारा जब मन से भ्रम और संशय दूर हो जाते हैं तब मानसिक अवस्था बदल जाती है और सच्चाई पर पड़ा हुआ परदा एक दम उठ जाता है। इसी सच्चाई

के प्रकाश का नाम "निर्वाण" है। भ्रम का चिराग बुझ जाता है और मानसिक सङ्कल्प विकल्प की पगड़ी गायब हो जाती है दृष्टि साधन का पक्षी आंखों से ओझल हो जाता है और मदारी का हाथ दिखलाई देने लगता है। यह छू मन्तर है।

यदि किसी को सच्ची बात कही जाये तो वह कभी न मानेगा। इस लिए मानसिक रोग को मानसिक औषधि से दूर किया जाता है। भ्रम की दवा भ्रम ही से करनी पड़ती है। एक अबल संस्कार (ख़याल) को बलवान संस्कार (ख़याल) निगल जाता है और ऐसा निगल जाता है कि डिकार तक नहीं लेता। जब दोनों ही नहीं रहते तब क्या रह जाता है ? सच्चाई और सार वस्तु ! वह सार वस्तु क्या है ? वह सच्चाई और सार वस्तु केवल हम और तुम हैं। यह कहना ठीक नहीं। बस जो है वह है। इससे अधिक और कुछ कहना सुनना बात को व्यर्थ ही बढ़ाना है।

हम ने अपने आपको भ्रम में डाल कर सेवक बना लिया और ईश्वर दनदनाता हुआ हमारा गला घोंटने के लिए आ पहुँचा। न हम सेवक बनते न स्वामी की सम्भावना होती ! सेवक की सेवकाई ने स्वामी को उत्पन्न किया नहीं तो वह होता कैसे ! मानो तो देव नहीं तो पत्थर। सारी बला मानने वालों ही के लिये है। जो नहीं मानता उससे कौन पूछा पेखी कर सकता है। हिन्दू मुसलमानी धर्म को नहीं मानते। उन्हें क्या हानि पहुँचती है ? मुसलमान हिन्दू धर्म की ओर ध्यान नहीं देते। उनका क्या बिगड़ता है ? ऐसे ही ईश्वर के विषय में भी समझो। एक ईश्वर को प्रकट करो और अठासी हज़ार ऋषि मुनि दम के दम में आधमकें। भाई ! यदि और अधिक कहते हैं तो हमको नास्तिक कहने लगोगे परन्तु हम नास्तिक नहीं हैं। तुम जो चाहो कहो। इसका तुम्हें पूर्ण अधिकार है—परन्तु पते की बात हमने बतादी।

चौकन्ने तो तुम अवश्य हो गये होगे परन्तु चित्त में सच्चाई भी बैठ गई होगी सच्ची बात तीर की तरह निशाने पर बैठती है। तुम मेरी बातों को सोचो और उन पर विचार करो कि हम सच कहते या झूठ। मुँह को न खोलो। पढ़ते समय तुम्हारे पास कोई नहीं बैठा है केवल अपने मन में सोचो और आप ही मान जाओगे।

निर्वाण इस प्रकार के भ्रम के दीपक को फूँक कर बुझा देता है। न रहे बाँस न बजे बाँसुरी।

ऐसे मानने, मनवाने और मनाने को हम भ्रम का ढकोसला कहते हैं और जब तुम्हारी दृष्टि भी ऊँची हो जायेगी तो तुम भी इसको ढकोसला ही समझोगे।

यह एक भ्रम था। इस भ्रम की उत्पत्ति कैसे हुई ? सार ग्राही बनकर केवल वेदों के मन्त्रों ही को पढ़ते, सुनते और सोचते समझते चलो। वह अपना इतिहास आप तुमको बता देंगे। वेद सबसे पुरानी पुस्तकें हैं और सब ग्रंथ या तो इनके अनुवाद हैं या इन्हीं के आधार पर लिखे गये हैं या भ्रम में फँसे हुये अनेक लोगों के विचार और उनके मन गढ़त बातें हैं। एक भ्रम के बीज से सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों अनगिनत बीज उत्पन्न होते हैं। जितना ही भ्रम का अभ्यास और साधन यत्न बढ़ता जाता है उतना ही वह और उत्पन्न होते जाते हैं और उनसे छुटकारा पाना महा कठिन हो जाता है। रात के समय किसी को अँधेरे बाग में भूत का भ्रम हुआ। अब बच्चा जाते कहाँ हो ! यह तुम्हारे हाड़ मांस को चट कर जायेगा और तुम इसका परिणाम आप अपनी आँखों देख रहे हो।

ऐसे ही अनेक प्रकार के भ्रम हैं—धार्म्मिक, सामाजिक व्यवहारिक राजनैतिक इत्यादि इत्यादि। कोई इनकी गिनती कहाँ तक गिनाये ! सब इन्हीं के रस्सों से बँधे रहे हैं और अपने बंधन

को बड़े ही गौरव की दृष्टि से देखते हैं कि परमार्थ की दृष्टि से वेदान्त कहता है—"जगत् मिथ्या, ईश्वर मिथ्या, वेद मिथ्या।" क्या उसका कहना असत्य है ? सबको मिथ्या कर लो और तुमको निर्वाण अभी दम के दम में प्राप्त हो जाये। सबको मिथ्या करना केवल अपने रूप में स्थिर हो रहना है और बस !

न यह जीवन बुरा है न आगे का जीवन बुरा होगा। न इस संसार ने कभी किसी अज्ञानी को काट खाया था और न यह अब काटता है। तुम बिना समझे बूझे हुये अपने जीवन को आप दुखदायी बना रहे हो और अनजान अपने आप को संसार से कटवा रहे हो। दोष तुम्हारा ही है। सचाई तो सचाई है। दूध का जला हुआ छाछ फूँक फूँक कर पीता है। राह में ठोकर खाकर गिरा हुआ सँभल सँभल कर पाँव रखता है और भ्रम का मारा हुआ भयभीत मनुष्य आप अपनी छाया से डरा करता है।

संतों का सतसङ्ग अधिक नहीं तो दो चार दस बीस दिन के लिये तो करो जिसमें यह भ्रम के भूत भागने लगें।

एक बात तो यह हुई। दूसरी बात जो और कही गई है वह यह है कि तुम्हारे मन की मुहफ़िल में जो काम, क्रोध, लोभ और मोह के फ़ानूस जल रहे हैं उन्हें बुझा दो और अभी अहंकार की पगड़ी दम के दम में गायब हुई जाती है।

इन्हीं फ़ानूसों के बुझाने का प्रबन्ध योग, ज्ञान और भक्ति के उठाईगीरे करते कराते हैं जिसमें अहंकार की पगड़ी गायब हो जाये। आओ इसीसे कुछ दिनों सम्बन्ध रक्खो और देखो इसी जन्म, इसी जीवन और इसी संसार में कैसा सुख और आनन्द तुम को प्राप्त होता है।

देखना ! भूल कर भी मुझे नास्तिक न कहना। यदि वास्तव में ईश्वर कोई वस्तु है तो वह हमारा निज रूप ही है। ईश्वर हम से भिन्न कब हो सकता है ! जो अपने से भिन्न और पृथक है उसके

साथ प्रेम और प्यार कैसे किया जा सकता है, ईश्वर सत्, सार तत्त्व और आत्म स्वरूप है। आत्म स्वरूप हम आप हैं ! अपने रूप का ज्ञान प्राप्त करके अपने रूप में स्थिर हो रहना निर्वाण है। वह अवस्था मरे पीछे जिसे मिलती होगी वह जानता होगा। हमारा तो यह कहना है कि वह अभी है, केवल भ्रम का परदा पड़ा हुआ है और इसी भ्रम के दीपक को फूँक कर बुझा देना निर्वाण है। हम वेद पुराण में से किसी का खण्डन या उस की निन्दा नहीं करते। हम खण्डन केवल उनका कर रहे हैं जो इनके सच्चे अर्थ, गूढ़ रहस्य और सङ्केत को नहीं समझते। परम संत कबीर साहिब की वाणी है:—

"वेद पुरान नहीं हैं झूठे, झूठा जो न विचारे।"

चौदहवाँ अध्याय

सहज समाधि के साधन का सुख (नं० १)

कुण्डलियां

बिन साधन नहिं होय कुछ, यह जाने सब कोय

१. यह जाने सब कोय, आग रहे लकड़ी भीतर।
बिना रगड़ नहिं प्रकट होय, वह किंचित बाहर॥ १।

२. किंचित बाहर प्रकट न हो, मिंहदी की लाली।
जो कोइ पीसे ताहि करे, सो हाथ गुलाली॥ २॥

३. हाथ गुलाली होय, पीस मिंहदी जब लावे।
तैसे हि ब्रह्म का दरस, पुषै साधन सों पावे॥ ३॥

४ साधन सों सब पाइये, ऋद्धि सिद्धि बुधि सोय।
बिन साधन नहिं होय कुछ, यह जाने सब कोय॥ ४॥

साधन नाम है साधने का। जो मनुष्य किसी वस्तु को साध लेता है वह उस पर अधिकार पा जाता है। नट ने अपने शरीर को साध लिया। दो बाँसों से बँधी हुई रस्सी पर बेखटके पाँव रखता हुआ इधर से उधर जाता है। तैरने वाले ने अपने हाथ पाँव साध लिये। पानी पर निडर होकर लेट जाता है। गेंद खेलने वाले लड़के अपने हाथ और आँख को साध लेते हैं और उछली हुई गेंद उनके हाथ में लौट आती है। इसी प्रकार हजारों और लाखों साधन के उदाहरण दिये जा सकते हैं। पढ़ने, लिखने, व्यवहार, व्योपार और संसार के प्रत्येक काम काज की पूर्त्ति के लिये साधन आवश्यक है। मैंने इतने उदारहण इसलिये दिये हैं जिनसे लोग साधन के सच्चे अर्थ को भली भाँति समझ जायें। साधारण रीति से साधन का अर्थ अभ्यास समझा जाता है। अभ्यास साधन अवश्य है परन्तु साधन वास्तव में साधने और साध लेने का नाम है। इसे हज़ारों में से कोई बिरला ही समझता है, इसलिये उसकी व्याख्या करनी पड़ी जिसमें सर्व साधारण भ्रम से बचकर तत्त्व को समझ सकें।

किसी किसी में विशेष प्रकार के साधन स्वाभाविक होते हैं जैसे पशुओं में तैरने का गुण, पक्षियों में परों को साधकर उड़ने का गुण परन्तु मनुष्य में साधन की हर जगह कमी दिखलाई देती है। सृष्टि ने उसे साधन सीखने और साधन के अभ्यास की आवश्यकता होती है। वह बिना साधन के न तो पानी में तैर सकता है न हवा में उड़ सकता है। यदि वह साधन करले तो उसके लिये दोनों बातें सम्भव हो जायें। लोग आश्चर्य करेंगे कि मनुष्य साधन से उड़ कैसे सकता है! यह बात इस समय उसकी समझ से बाहिर है परन्तु मैं इस रहस्य को जानता हूँ। मैं स्वयं उसे करके इस समय दिखा नहीं सकता। स्वप्न अवस्था में बराबर उड़ा उड़ा फिरता हूँ। जागृत अवस्था में उस दशा को अपने अन्दर उत्पन्न नहीं कर

सकता। समय आने वाला है जब मनुष्य बिना पर के उड़ कर लोगों को यह आश्चर्य्य जनक दृश्य दिखलायेगा। उड़ने को तो वह अब भी स्वप्न अवस्था में उड़ा करता है परन्तु जागृत अवस्था में उड़ने का गुर अभी उसके हाथ नहीं आया है। यदि मैं चाहूँ तो किसी छोटे बच्चे को यह साधन सिखा सकता हूँ। मैं स्वयं अब नहीं कर सकता और न इसकी इच्छा है। यह बात वैसे ही सम्भव है जैसे मिस्मेरिज्म का साधन करने वाला आप तो दिव्य दृष्टि वाला नहीं होता परन्तु जिस पर करता है उसमें वह अवस्था उत्पन्न कर सकता है।

साधन से सब कुछ सम्भव है। इसके सामने कोई भी बात असम्भव नहीं है। इतना ही समझाना था और बस!

मनुष्य को क्यों साधन की आवश्यकता है? और पशुओं को विशेष बातों में उसकी आवश्यकता क्यों नहीं है? इसका कारण यह है कि पशु गिरावट की दशा में नहीं है। मनुष्य गिरा हुआ है। मुसलमान तो कहते ही हैं कि आदम (मनुष्य) बहिश्त (स्वर्ग) से नीचे गिराया गया था। पता नहीं हिंदुओं में कोई ऐसी कथा है या नहीं। कम से कम मैं तो नहीं जानता।

मैं मनुष्य को गिरा हुआ समझता हूँ। जो अपनी पदवी से गिर जाता है वह अपने मान प्रतिष्ठा और गौरव को खो देता है और निकम्मा बन जाता है।

मनुष्य उच्च अवस्था से बहुत नीचे गिरा हुआ है उस की सारी बड़ाई और महिमा जाती रही। वह कभी सर्वश्रेष्ठ रहा होगा परन्तु अब तो गिरा हुआ पद्दलित और नीची अवस्था में दिखलाई देता है। उसकी गिरावट का बहुत बड़ा प्रमाण उसकी वर्त्तमान दशा है। वह इतना गिर गया है कि खाने पीने के लिये बैलों का, कपड़े के लिये भेड़, बकरे और रेशम के कीड़े का, मधु के लिये मक्खी का और बहुत तेज चलने के लिये घोड़े साँड़नी और रेल का मुहताज होगया।

है। उसकी आवश्यकतायें इतनी बढ़ गई हैं कि आप तो जैसा है वैसा है दूसरे स्वतन्त्र पशुओं को अपने स्वार्थ साधन के लिये अपना मुहताज और गुलाम बना रहा है। अपने भाइयों की तो वह दुर्गति कर रहा है जो कहने में भी नहीं आ सकती। राजा प्रजा के भाव, स्वाधीन और पराधीन के भाव, बड़ाई छुटाई के भाव और धर्म्म कर्म्म के भाव सब इसकी गिरावट के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ऐसे गिरे हुये मनुष्य को कोई अनाड़ी ही सर्व श्रेष्ठ कहेगा। यदि निर्पक्षता के साथ आँख खोलकर देखा खाय तो इससे नीची दशा में गिरा हुआ कोई भी दिखलाई नहीं देता। चाहे कोई मेरी बात को सच्ची माने या न माने इसका उसे अधिकार है।

साधन का सीखना ऐसे गिरे हुए मनुष्य के लिए परमावश्यक है।

मनुष्य की गिरावट उसका भ्रम है। वह भ्रम और भ्रान्ति के बन्धन में बुरी तरह जकड़ा हुआ है। धर्म्म कर्म्म, रस्म रिवाज, सभ्यता और सारे व्यवहार का खेल उसके भ्रम के आधार पर हो रहा है। कैसे आश्चर्य की बात है कि उसे इन बातों का अभिमान भी है और इन्हीं की डींगें मारा करता है। विद्वान को विद्या का, पण्डित को पण्डिताई का, समाज को सभ्यता का, पन्थाई को पन्थ का और कर्म्मकाण्डी को कर्म्म का अभिमान है। यह सब का सब मनुष्य की अपनी उपज है। इसने व्यर्थ ही अनावश्यक बातों को अपना अंग संग बना लिया और उनका मुहताज बनकर दुखी हो हो गया। तुम्हारा जी चाहे तुम मुझे बाबला, सिड़ी, अज्ञानी और असभ्य कह लो परन्तु मैं बावलेपन, अज्ञान और असभ्यता को उस विद्या चातुरी और पांडित्य से कहीं उत्तम समझता हूँ जो मनुष्य को नीच, अधम और तुच्छ बनाते रहते हैं। गिरावट तो गिरावट ही है। उसकी प्रशंसा क्या! यदि प्रशंसा होगी तो पूर्ण की होगी परन्तु पूर्ण को प्रशंसा की आवश्यकता ही नहीं है।

मनुष्य गिरा। यह सच है। आदम बहिश्त से निकाला गया। यह भी सच है। इतिहास चाहे पता न दे, मनुष्य की बुद्धि चाहे विश्वास न करे परन्तु मैं इसे सच्ची बात समझता हूँ। यदि तुम भी मेरे समान संसार की दृष्टि में बावला और सिड़ी हो जाओगे तो इसे ऐसा ही समझोगे।

तुम पूछोगे इसका प्रमाण क्या है ? आओ अब तुम्हें लगे हाथों प्रमाण भी सुना दें। प्रमाण तुम आप हो। एक एक मनुष्य अपनी गिरावट का आप प्रत्यक्ष प्रमाण है। गिरे हुए, मुहताज और गुलाम को तुम चाहे अच्छा कहो परन्तु मैं तो कभी नहीं कह सकता।

पहले मनुष्य की यह दशा नहीं थी। वह कुछ और ही रहा होगा। तुम इसका भी प्रमाण माँगोगे क्योंकि इस समय के विद्वान और तत्त्ववेत्ता बिना प्रमाण के किसी बात को सच नहीं मानते मैं फिर वही बात दुहराकर सुनाता हूँ—'प्रमाण तुम आप हो।' जो मनुष्य ऊँची अवस्था से नीचे गिरता है उसमें ऊँचाई के संस्कार रहते हैं और वह फिर उसी पहिली अवस्था में जाने की इच्छा रखता है क्या तुम अपनी वर्त्तमान दशा में सन्तुष्ट हो ? कभी नहीं ! क्या तुम अच्छी अवस्था प्राप्त करने की प्रबल इच्छा नहीं रखते ? क्या तुम अपनी उन्नति नहीं चाहते ? चाहते हो और अवश्य चाहते हो ! ऐसा क्यों है ? कारण यह है कि एक बार देखा दूसरी बार देखने की लालसा है।

करोड़पती का धन उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकता। भोग-विलास की इच्छावाले अपने सुख सम्पन्न जीवन से तृप्त नहीं होते। राजा प्रजा सभी वासना के जाल में फँसे हुए हैं इसका कारण यह है कि वह पहिले अच्छे थे, अब बुरे हो गये हैं फिर भी अनजान में उसी भलाई, अच्छाई, सुख, आनन्द और पूर्णता की खोज में लगे हुए हैं। धन, द्रव्य, स्त्री, पुत्र, मान प्रतिष्ठा और अनेक वस्तुओं का अनुभव करके कहते हैं कि इनमें सुख और

शान्ति नहीं है। क्या यह झूठ है। अपने हृदय से पूछो और वह मुझसे कहीं अच्छा उत्तर तुम्हें देकर समझायेगा और सच्चाई का पता देगा। गिरा हुआ मनुष्य फिर ऊँचे चढ़ने की इच्छा रखता है। अपूर्ण मनुष्य फिर पूर्ण बनने की लालसा रखता है। वह स्पष्ट शब्दों में कह नहीं सकता कि वह चाहता क्या है क्योंकि वह कहने सुनने की बात ही नहीं है। कोई कहे भी तो क्या कहे! परन्तु मन में उसका संस्कार काम कर रहा है। सब अन्धों की तरह लाठी टेकते हुये खट खट करते चले जा रहे हैं और जब तक वह दशा फिर न प्राप्त होगी वह इसी दौड़ धूप और उधेड़ बुन में लगे रहेंगे और जन्म जन्मान्तर तक यही सिलसिला रहेगा।

सन्त इस फंद से बाहिर आने की युक्ति सुझाते रहते हैं और वह युक्ति यह है कि अपने आप को साध लो, साधन कर लो फिर यह भ्रम जड़ मूल सहित दम के दम में नाश हो जायेगा। साधन की शिक्षा केवल गिरे हुये लोगों के लिये है। यह सन्तों का सन्देश है और मैं भी इसी को सुनाता रहता हूं। इस साधन में तुम को विचित्र सुख मिलेगा जो और कुछ नहीं केवल तुम्हारी अन्तरी अवस्था का दृश्य होगा। इसकी व्याख्या आगे की जायेगी।

पन्द्रहवाँ अध्याय

सहज समाधि के साधन के सुख

कुण्डलियाँ

बिन साधन के साधवा! कोई साध न होय।

१. कोई साध न होय, जो साधन चित नहीं लावे।
जानो ताहि असाध सदा, सो बिपत कमावे॥ १॥

२. बिपत कमावे दुखी रहे, पड़ काल के फन्दा।
ऐसा प्राणी मूढ़, रहे ईश्वर का बन्दा॥ २॥

३. ईश्वर का बन्दा बना, बन्दगी उसका काम।
बन्दा बन बँधुआ हुआ, बन्धहि में विश्राम ॥ ३ ॥
४. बन्धहि में विश्राम लखे, निज स्वतन्त्रता खोय।
बिन साधन के साधवा ! कोई साध न होय ॥ ४ ॥

साधू नाम है साधन करने वाले का। जो साधन करता है उसी को साधू कहते हैं। जो साधन नहीं करता वह साधू नहीं है। और कुछ उसे कहलो, साधू न कहो। वह असाधू है और असाधू का रोग असाध्य होता है। साधन सारे रोगों की औषधि है। असाधन अज्ञान और अज्ञान के दुखों की माँ है।

आज कल लँगोटी में फाग खेलने वाले साधू कहलाते हैं। द्वार द्वार घूमते और मारे मारे फिरते हैं। किसी ने गेरुये कपड़े रँग लिए, किसी ने गले में कफ़नी डाली। किसी ने माला तिलक और और छाप ही को सब कुछ समझ रक्खा। इन सब ने कायर बनकर घर का काम काज छोड़ा। हिजड़ा होकर स्त्री से मुँह मोड़ा कायर ने न कभी मैदान मारा और न किसी हिजड़े से आज तक ईश्वर की भक्ति हुई। मैं तो ऐसा ही सुनता चला आरहा हूं। यदि तुमने किसी भगड़े को लड़ाई के मैदान में लड़ते देखा है या किसी हिजड़े को ईश्वर की भक्ति करते सुना है तो सम्भव है तुम्हारा विचार सच हो। मैंने तो कम से कम न आँखों देखा न कानों सुना।

साधू शूर वीर और साहसी होते हैं। उनके लिए जैसा घर वैसा ही जंगल। वह कायर नहीं है कि स्त्री के डर से मुँह में स्याही पोत कर ठोकरें खाते और द्वार द्वार भागते फिरें और "दाता ! कल्याण करे" की हाँक लगाते रहें। तुम से किस मूर्ख ने कहा कि साधू जंगली पशु का नाम है। जंगली पशु तो जंगली ही होते हैं। जंगली बन्दर को पकड़ कर बहुत से लोग उसे भिक्षा

माँगना सिखाते हैं। यह भिखमंगे भी वैसे ही बन्दर हैं। रूप रंग मनुष्य जैसा परन्तु बन्दर जैसा नाच नाचते रहते हैं। भक्ति भाव के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य जंगल में भाग जाये और घर बार से मुँह मोड़े। ऐसा समझना भूल है। हाँ ऐसे लोग जो असंग रहने का साधन करते हैं वह बहुधा सबसे अलग थलग रहते हैं। इससे विशेष हानि नहीं होती परन्तु गृहस्थी इनसे भी ऊँची पदवी वाले होते हैं। जो सग में असंग और असंग में संग का दृश्य दिखाते हुये अपने साधन में लगे रहते हैं। चाहे कोई घर में रहे या बाहिर रहे काम तो साधन करने से है और साधन हर जगह और हर समय हो सकता है।

१ प्रेम भाव इक चाहिये, भेस अनेक बनाय।
चाहे घर में बास कर, चाहे बन में जाय॥ १ ॥

२. मन के मारे बन गये, बन तज बस्ती माँह।
कहें कबीर क्या कीजिये, यह मन बूझे नाँह॥ २ ॥

३. जोगी जंगम सेवड़ा, सन्यासी दरवेश।
बिना प्रेम पहुंचे नहीं, दुर्लभ सतगुर देश॥ ३ ॥

साधन करने वाले साधुओं में विलक्षण गुण होते हैं। यदि कहीं इस समय सच्ची बात कही जाये तो लकीर के फ़कीर किसी की कब सुनने वाले हैं! वह तो हिजड़ों और कायरों ही को साधू बनने के योग्य समझ बैठे हैं। मैंने अपनी आँखों से ऐसे मनुष्य देखे हैं जो मनुष्य जीवन का सारा व्यवहार करते हुए बहुत बड़े अभ्यासी और साधन करने वाले हैं और जो अपनी इन्द्रियों को निकम्मी न बना कर उनसे उचित व्यवहार करते हुए परमार्थ की कमाई में लगे हुये हैं। यह लोग अपनी सारी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार रखते हैं। बाबा! साधुपना कोई और ही वस्तु है। यह तो साधारण समझ बूझ वालों के बहकाने, फुसलाने और उभार उभार कर राह पर लगाने की बातें हैं नहीं तो गृहस्थ आश्रम में रहकर

साधन अभ्यास बड़ी सुगमता और उत्तमता के साथ कर सकता है ।

साधन में विशेष प्रकार का सुख मिलता है जिसका अनुभव केवल साधुओं ही को होता है । दूसरा उसे जान कैसे सकता है ! जैसे हिंजड़ा स्त्री के भोग विलास के सुख को नहीं समझ सकता है वैसे ही असाधू भी साधन के रस और आनन्द को नहीं जान सकते । यह साधन का सुख ही वह मुख्य कारण है जो साधू को परमार्थ की कमाई में लगा रखता है । सुख दुख क्या है ? इसे भी आज मुझसे सुन लो । सुरत या चित्त की वृत्ति का किसी वस्तु से मिलकर एक हो रहना सुख है । और उसका किसी वस्तु से बलात्कार हटाया जाना दुख है । सुख दुख की परिभाषा बस इतनी ही है । इससे अधिक यदि कोई कहता है तो वह बात का बतँगड़ा बनाता है । या तो उसको अब तक सुख की समझ नहीं आई या पुस्तकों की बातें सुनकर उन्हीं की हाँक लगाया करता है ।

सुख दुख के रूप का समझना बहुत ही सुगम है । हाँ, बात केवल इतनी है कि बच्चों की सीधी सादी बोली में बात की जाये और विद्वानों की गूढ़ परिभाषाओं से काम न लिया जाये बच्चा गेंद खेल रहा है । इसके चित्तकी वृत्ति गेंद के साथ मिलकर एक हो रही है और उसे उसका सुख मिल रहा है । गेंद उसके हाथ से छीन लो । उसकी वृत्ति उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार हटाई गई । अब उसे दुख हो गया । पहिले वह हँसता था, अब रोने लगता है । यह सुख और दुख का सीधा सादा उदाहरण है ।

एक नवयुवक के चित्त की वृत्ति स्त्री में लगी हुई है और वह सुखी है । स्त्री का वियोग हुआ, मरी या छीनी गई, अब उसे दुख हो रहा है, क्योंकि उसके चित्त की वृत्ति स्त्री से बलात्कार हटाली गई ।

बूढ़े को किसी वस्तु से घना प्रेम है । वह बार बार उसीका

सुमिरन करता है और उसी में अपनी वृत्ति को जोड़कर सुखी रहता है। वह वस्तु उससे छीन ली गई। अब वह इच्छा विरुद्ध वृत्ति के हटाये जाने से दुखी होगया।

यह सुख और दुख है। देखो! कैसी सरल बात है जिसे साधारण मनुष्य भी समझ सकता है। गूढ़ परिभाषाओं के प्रयोग से यही सीधी सादी बात महा कठिन हो जाती है। साधारण बात को गूढ़ विषय बनाने की क्या आवश्यकता है।

साधन एक प्रकार का नहीं है। उसके समझ के भी अनेक ढङ्ग हैं। हाँ, सिद्धान्त एक है, गुरु एक है जो सीधा सादा और सच्चा है। मैंने गुरु से एक साधन सीखा जिसे **सन्त सुरत शब्द योग** कहते हैं। इसी साधन को सूफ़ी सुल्तानुल अज़कार नाम देते हैं। यह सहज, सुगम और तत्काल फल देने वाला है। यदि किसी को सहज साधन करने की इच्छा हो तो वह इसे करके देख सकता है और उसके साधन के सुख का अनुभव भी कर सकता है।

सोलहवाँ अध्याय

सहज समाधि के साधन का सुख (नं० ३)

कुण्डलियाँ

साधन मन का खेल है, और कहो मत ताह

१. और कहो मत ताह, यह मन है बड़ा खिलाड़ी।
कबहुँ होय सचेत, तो कबहूँ निपट अनाड़ी ॥ १ ॥

२. निपट अनाड़ी बना, कुबुधि की चढ़ी कमानी।
त्याग दिया जब कुबुधि, तो हो गया ज्ञानी ध्यानी ॥ २ ॥

३. ज्ञानी ध्यानी बना, जोड़ कर वृती अपनी।
वृत्ति वियोग कलेश, मेल में सुख की रहनी ॥ ३ ॥

४. सुख की रहनी वृत्ति में, वृत्ती साधन माँह ॥
साधन मन का खेल है, और कहो मत ताह ॥ ४ ॥

सुरत शब्द योग का साधन, साधना मात्र है। इसकी युक्ति का पता सन्तों के सत्सङ्ग और सन्तों के दरबार में मिलता है। लिखने को तो मैं यहाँ लिख भी देता हूं परन्तु इस लेख को भी समझाना किसी चैतन्य मूर्ति के आधीन है। उससे सहायता लेने की बड़ी आवश्यकता है।

साधन नाम है मन की वृत्ति के जोड़ने का। जैसे तुम व्यवहारी काम काज में चित्त को लगाकर उसका सुख प्राप्त करते हो वैसे ही इस मन की वृत्ति को अपने में जोड़ कर अपने आपके सुखको भी प्राप्त कर सकते हो। व्यवहारी कामकाज में चित्त जोड़ रखना बाहिरमुखी वृत्ति है और अपने में मन को जोड़ना अन्तरमुखी वृत्ति है। एक बाहिरी है। दूसरी भीतरी है। इन दोनों में कहने के लिए नाम मात्र भेद है परन्तु वास्तव में सिद्धान्त दोनों जगह एक ही है।

बाहिर तुमको नाना प्रकार की वस्तुयें दिखाई देती हैं। उनसे वृत्तिको जोड़कर तुम सुखी होते हो। तुम्हारे अन्दर भी अनगिनत दृश्य हैं। यदि उनसे वृत्ति को जोड़ो तो अन्तर का सुख भी मिलने लगे।

बाहिर जो कुछ वस्तुयें दिखाई देती हैं वह एक दशा में नहीं रहतीं। उनके परमाणुओं में क्षण क्षण परिवर्त्तन होता रहता है। यही कारण है कि वृत्ति को उधर से बार बार हटना पड़ता है। इसलिये बाहिर के साधन में दुख बहुत है। अन्तर का सूक्ष्म तत्व बाहिर की अपेक्षा जल्द जल्द नहीं बदला करता। यदि उनमें

वृत्ति जोड़ी गई तो वह जल्द जल्द न हटेगी और इसलिए उसमें अधिक सुख मिलेगा।

तुम देखते हो जागृत अवस्था में जागृत के पदार्थों से वृत्ति जोड़ने में सुख होता है परन्तु यह द्वन्द जगत के पदार्थ हैं इसलिए वृत्ति हटती रहती है। स्वप्न और सुषुप्ति में उनकी कमी है। इस लिए बाहिर की अपेक्षा यहाँ वृत्ति का ठहराव देर तक होता है। यही कारण है कि भीतर सुख अधिक है और बाहिर कम है।

तुम्हारे अन्तर में क्या है? और **सुरत शब्द योग** के साधन में किसके साथ वृत्ति जोड़नी पड़ती है? यह अब हम तुमको समझाते हैं।

जितने देवी देवता हैं वह तुम्हारे शरीर के अन्दर हैं देवता ब्रह्माण्ड की दिव्य शक्तियों का नाम है। शरीर के नीचे और स्थूल मण्डल में निचले और स्थूल देवता रहते हैं—जैसे कण्ठ में दुर्गा (वासना देवी) हृदय में शिव, नाभि में विष्णु इन्द्री में ब्रह्मा और गुदा में गणेश जी रहते हैं। यह तत्त्वों के देवता हैं। कण्ठ में आकाश तत्त्व है। उसके धनी का नाम दुर्गा है। हृदय में वायु तत्त्व है। उसके धनी का नाम शिव है। नाभि में अग्नि तत्त्व है। उसके धनी का नाम विष्णु है। इन्द्री जल तत्त्व है। उसका धनी ब्रह्मा है। गुदा में पृथ्वी तत्त्व है। उसका धनी गणेश है।

यह पंच देव, पंच तत्त्व और उनके धनियों की व्यख्या है। यह स्थूल हैं और स्थूल तत्त्वों के स्थूल स्थानों में रहते हैं। जैसे यह पाँच तत्त्व क्षण क्षण बदलते रहते हैं वैसे ही यह भी बदलते रहते हैं। यदि इनसे वृत्ति जोड़ने का साधन करोगे तो जैसे पानी में डुबकी लगाने से तुमको ठण्डक मिलती है या आग के पास बैठने से गर्मी मिलती है वैसे ही इनका भी सुख मिलेगा। इसमें सन्देह नहीं है परन्तु यह सुख सदैव एक रस नहीं रहेगा।

वह जल्दी जल्दी दुख में बदलता रहेगा। इस लिये सतपुरुष राधास्वामी ने इनका साधन छुड़ा दिया और निचले मण्डल के साथ वृत्ति जोड़ने को इतना लाभदायक नहीं बतलाया।

राधास्वामी मत में पिण्डि देश के देवताओं का साधन नहीं सिखाया जाता। वह अपना साधन और अभ्यास ब्रह्माण्ड से आरम्भ कराता है जो सूक्ष्म मण्डल है। पिण्ड में स्थूल तत्व (महाभूत) और स्थूल देवता रहते हैं। ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म तत्व और सूक्ष्म देवता रहते हैं। पिण्ड ब्रह्माण्ड की छाया (नक़ल) है। अस्ल अस्ल है। अस्ल में अस्लियत रहती है।

ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म मण्डल के तत्व और देवता यह हैं। इन तत्वों के नाम शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध हैं और इनके देवता विराट्, अव्याकृत, हिरण्यगर्भ, शून्य पुरुष और सोहं पुरुष हैं। जैसे पिण्ड में देवताओं के पाँच स्थान हैं वैसे ही इनके भी तुम्हारे ललाट में पांच स्थान हैं जिनका पता साधन सीखते समय तुमको दिया जायेगा। विराट, अव्याकृत और हिरण्यगर्भ की मिली हुई अवस्था का नाम "ॐ" है जो गणेश, ब्रह्मा और विष्णु की सम्मिलित अवस्था को अपने अन्दर रखता है। इसके आगे जो शून्य पुरुष और सोहं पुरुष हैं वह पिण्ड के शिव और शक्ति के सदृश हैं। जो यहाँ है वही वहाँ है। केवल स्थूल और सूक्ष्म का भेद है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड को एक दूसरे से मिलाकर समझा दिया गया। जैसे हमने पिण्ड को ब्रह्माण्ड की छाया (नक़्ल) बताया है वैसे ही यह ब्रह्माण्ड भी अपनी बारी पर किसी की छाया या नक़्ल है। इसमें भी जो असलियत है वह केवल पिण्ड की दृष्टि से है नहीं तो सच्ची और असली असलियत तो उसमें है जो सत् खण्ड कहलाता है। वह और उसके पाँच स्थान तुम्हारे सर

में ललाट से ऊपर आते हैं। पिण्ड में स्थूल तत्व और स्थूल देवता रहते हैं। ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म तत्व और सूक्ष्म देवता रहते हैं। सत् खण्ड या सच खण्ड में कारण तत्व और कारण देवता रहते हैं। यह तीनों ही तुम्हारे शरीर में हैं। वहाँ इनकी जो अवस्था है वह कहने सुनने में नहीं आती, केवल अनुभव से उसका ज्ञान होता है। यदि तुम में अनुभव है तो तुम सुगमता के साथ हमारी इस युक्ति को समझ सकोगे। उनके नाम यह हैं– सत्, अनामी, अलख, अगम और **राधास्वामी**।

यह तीन मण्डल हैं। इनको त्रिलोकी कह सकते हो त्रिलोकी का अर्थ लोगों ने और ही समझाया है। हम स्थूल, सूक्ष्म और कारण को त्रिलोकी कहते हैं। यदि तुम कुछ भी सोच विचार से काम लोगे तो इसे भली भाँति समझ सकोगे।

इन तीनों मण्डलों या देशों की चोटी पर हर मण्डल का छठा चक्र आता है जो पाँचों चक्रों से ऊँचा है और साधन करने वाले को उसी जगह और उसी स्थान पर अपनी वृत्ति को एकाग्र करने का उपदेश दिया जाता है।

● इन तीनों से परे चौथा धाम और चौथा पद है। इसका नाम भी **राधास्वामी** रक्खा गया है जो सबका आदि और अंत है और जो आदि और अन्त से परे है। यह अन्तर में भी है बाहिर भी है। यह सर्व व्यापक भी है परन्तु केवल समझाने बुझाने के लिए उसे सर्व व्यापक कहा जाता है। वास्तव में वह अल्पज्ञता और सर्वज्ञता से भी कहीं ऊँचा है। यही **राधास्वामी मत** का इष्ट है। यह महाकारण है परन्तु महाकारण भी उसे केवल समझाने की दृष्टि से कहा जाता है।

स्थान भेद की व्याख्या हो गई। इस से अधिक हम लिख नहीं सकते हैं। हाँ यदि कुछ दिनों कोई सत्संग करे तो सङ्केत

द्वारा उसे समझा दिया जाता है।

स्थूल तुम आप हो और स्थूल का तो योंही व्यवहार कर रहे हो इस की तुमको समझ बूझ है। इसलिये हम स्थूल में फँसा कर समय नष्ट कराना नहीं चाहते। राधास्वामी मत सूक्ष्म मण्डल से अभ्यास और साधन कराता हुआ कारण में ले जाता है और महाकारण में आत्म अवस्था या ध्रुवपद को लखाता है। यदि किसी ने सूक्ष्म की कमाई कर ली है और सूक्ष्म वृत्ति के साधन पर अधिकार पा लिया है तो उसे ब्रह्माण्ड के साधन की भी आवश्यकता नहीं है। वह केवल सतखण्ड का साधन करे और यदि इसे भी उसने सचमुच तै कर लिया है तो उसे सहज समाधि की प्राप्ति है। उसे थोड़ा सा इशारा (सङ्केत) दे देना है। इस भूमिका से तुम राधास्वामी मत की महिमा समझ सकोगे।

इन सब साधनों का सम्बन्ध मन की वृत्ति जोड़ने से है। जब वृत्ति जोड़ते जोड़ते अभ्यास हो जायेगा तो फिर सुरत निर्मल हो जायेगी और अपने प्रकाश में स्वप्रकाश, अपने आनन्द में स्वानन्द अपने ज्ञान में स्वज्ञान और अपने आप में स्थिर रहेगी और यही अन्तिम पद या ध्रुव पद है।

सत्रहवाँ अध्याय

सहज समाधि के साधन का सुख (नं० ४)

कुण्डलियाँ

मन को अमन[१] विमन करे, सो है संत सुजान[२]
१—सो है संत सुजान, ज्ञान का रूप है सोई।
आवागमन को मेट, लीन[३] निज रूप में होई॥ १॥
२—लीन रूप में रहे, योनि[४] का भर्म मिटावे।
कर्म धर्म पाखण्ड के, फिर फन्द न आवे॥ २॥

१—निर्मल। २—ज्ञानी। ३—मग्न ४—आवागमन।

३—फन्द न आवें सन्त, काल यम से नहिं डरते।
वह नहिं जन्में कभी, जन्म कर फिर नहिं मरते ॥ ३ ॥
४—फिर नहिं मरते सन्त कभि, मन के परे ठिकान।
मन को अमन बिमन करे, सो है सन्त सुजान ॥ ४ ॥

जन्म मरण केवल मन के सङ्कल्प विकल्प का खेल है। इसी सङ्कल्प विकल्प के पल पल बदलते रहने में जन्म मरण है। यह मन कभी आकाश में चढ़ता है, कभी पाताल में गिरता है। कभी यह निर्द्वन्द रहता है। कभी सोच विचार में रहता है। कभी किसी ओर ध्यान देता है और कभी किसी ओर। कभी यह चंचल है। कभी निश्चल है। जब यह चंचल है तब संसारी है और जब यह निश्चल है तब समाहित या समाधिवाला है। समाधि ठहराव है। असमाधि बहकाव है। यह अवस्था सब पर आती है। ऐसा कोई भी नहीं जिस पर यह न बीते। इसी द्वन्द अवस्था को आवागमन और जन्म मरण कहते हैं जब मन में विशेष वासना या इच्छा होती है तब वह उसी के अनुसार वैसी ही सामिग्री इकट्ठा करता है। जब उससे उकता जाता है या उसे उपराम हो जाता है तब उसे छोड़ बैठता है। पहिली दशा जन्म है। दूसरी दशा मरण है। आवागमन की फ़िलास्फ़ी की जड़ केवल इसी सिद्धान्त पर है। इसे भली भाँति समझ लो और तुम आवागमन के सिद्धान्त को समझ सकोगे। यदि यह नहीं समझ लिया गया तो अनगिन प्रश्न और भ्रम उत्पन्न होते रहेंगे और शान्ति न मिलेगी। मैं किसी को फ़लसफ़े के उलझन में नहीं फँसाना चाहता। केवल सिद्धान्त समझा देता हूँ और सिद्धान्त के समझ लेने से जांच पड़ताल का सिलसिला बन्द हो जाता है। जन्मना मरना तो होता ही रहता है। इससे इन्कार किसे है? परन्तु यह केवल मन के मानसिक

कारबार का खेल है। मन को साध लो। साधन की रगड़ से उसके दर्पण को प्रकाशवान और निर्मल करलो। फिर न कहीं जन्म है न मरण है। इसी का नाम अमन और विमन होना है। अमन कहते हैं मन से अलग होने को और मन से खाली हो जाने को परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि मन को मार दिया गया। मन चाहे रहे या न रहे। वह हमारा बिगाड़ता क्या है? और उससे हमारी हानि क्या होती है? शरीर में बल है। बल किसी को काटता कब है! वह शरीर में रहा करे, इसी प्रकार अनेक विद्यायें पढ़कर हम कितनी बातें सीख लेते हैं। इनसे हमारा क्या बिगड़ता है! हानि या बिगाड़ तो वहाँ होती है जहाँ अहङ्कार या स्वार्थ साधन रहता है। इनकी ओर से आँख फेर लो, बस काम बन गया। फिर तुम स्वतन्त्र के स्वतन्त्र हो। हवा चलती है। लोग चाहे हवा से काम लें या न लें। हवा का उनसे कोई काम नहीं है। पानी बह रहा है। लोग चाहे लोटे, घड़े, मटके भरें या न भरें। पानी उन्हें कुछ नहीं कहता। सूर्य्य चमकता है। उसके प्रकाश से कोई लाभ उठाये या न उठाये। सूर्य्य इनकी ओर ध्यान भी नहीं देता। इसी प्रकार जिसने मन को साध लिया है अभ्यास से उसकी वृत्ति विशेष प्रकार की हो जाती है और इसी का नाम सहज समाधि है।

सहज समाधि वाले पुरुष को हर जगह, हर वस्तु में और हर समय समाधि का आनन्द मिलता है। जहाँ जहाँ मन जाता है वहाँ वहाँ उसकी समाधि लगी हुई है। अब वह और समाधि क्या लगाये! और क्यों लगाये! उसे अब आवश्यकता क्या रही! वह ईश्वर की दिव्य शक्ति बन गया, इतना ही नहीं किन्तु वह ईश्वर का रूप बन गया और रूप ही क्यों वह आप ही सब कुछ है। उसे उस परम तत्व से कोई मनुष्य अलग नहीं कर सकता। अलग तो वह पहिले भी नहीं था। अहङ्कार का भ्रम

होती है। सुन्न तीन हैं। इसका पता सन्त समागम अर्थात् सन्तों के सतसंग में मिलेगा।

योग का आदि अन्त और मध्य इन्हीं तीन स्थानों तक है। चाहे हज़ार गहरी समाधि लगे फिर भी वह उत्थान के दोष से खाली नहीं है। असलियत भँवरगुफा के स्थान के परे है। सतलोक से उसका आरम्भ है। यहाँ से सहज समाधि लगने लगती है जो वास्तव में हम सब में पहिले ही से है। केवल उसका पता नहीं है। वह अलख, अगम और राधास्वामी धाम में पूरी होती है। सत पुरुष राधास्वामी दयाल की वाणी है:—

"जो कोइ इतने ऊँचे चढ़े।
रूप रंग रेखा से टरे॥"

देखना! यहाँ चढ़ाई के शब्द पर न अटकना नहीं, नहीं तो सचचाई से कोसों दूर जा पड़ोगे। कहने सुनने और समझाने बुझाने के लिये शब्दों से काम लेना पड़ता है। परन्तु बुद्धिमान मनुष्य सार तत्त्व को गह लेते हैं, वह बातों में नहीं अटकते। लिफ़ाफ़ा फाड़ कर ख़त को पढ़ो, उसका मतलब समझो और बस!

शब्द योग का साधन अवश्य करो। पहिले विराट् के स्थान से साधन आरम्भ करके अभ्यास की रगड़ से उसे साधारण बनालो जिससे वह सहज हो जाये। यही साधन अव्याकृत और हिरण्यगर्भ आदि के स्थानों पर करो और उन्हें भी सहज करलो। इन स्थानों पर तुम्हें विशेष प्रकार का अपार आनन्द मिलेगा जिसकी उपमा संसार के सुखों में नहीं दी जा सकती। पानी के पास जाने से ठंडक और आग के पास जाने से गर्मी मिलती है। यह तुम जानते हो। इसी प्रकार इन स्थानों के साधन करने से तुम को देवताओं की सूक्ष्मता और दिव्य शक्ति मिलती जायेगी। इनको पाकर मन की कली खिल जायेगी। कुछ दिनों इनका सुख भोगो परन्तु इनसे में

किसी में अड़ने, अटकने या लटकने का हुक्म नहीं है । सम्भव हो तो इन्हें भी भली भाँति सहज बनालो और यह अभ्यास से हो सकता है । आदर्श यह भी नहीं हैं । इन्हें सहज बनाकर राधास्वामी धाम तक चढ़ाई करलो जो सहज स्वाभाविक अवस्था है । उस अवस्था या दशा भी नहीं कहते हैं परन्तु करें क्या ! शब्दों से तो काम लेना ही पड़ता है । जब साधन करते करते मन की मलीनता दूर हो जायगी और उसके परदे फटते जायँगे उस समय तुम को सन्त समागम के प्रताप और सन्त की अपार दया से आप ही आप अपनी सहज अवस्था, सहज रूपता और सहज निजता का अनुभव हो जायेगा। फिर न कुछ करना है न धरना है, न साधन है, न अभ्यास है । यह सहजपना तुम्हारा रूप है । यह पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा । केवल अज्ञान, अन्धकार, अहंकार और मन की मलीनता के कारण भ्रम हो रहा था। अब भ्रम नहीं रहा आत्म स्वरूप और अपने आपा का अनुभव पूर्ण रीति से हो गया । अब कोई खटका नहीं रहा । खटका और भ्रम सदैव के लिये जाता रहा । तुम आप जैसे थे वैसे हो, केवल भ्रम का नाश हो गया और अब अपने आप को समझ गये ।

आप आप को आप पिछानो ।
कहा और का नेक न मानो ।।
(सत्पुरुष राधास्वामी दयाल)

यही आदर्श था और यही आदर्श है । यहाँ तक पहुंच कर फिर चाहे तुम संसार का व्यवहार करते रहो, संसार तुमको नहीं काट खायेगा। तुम बलवान होते हुए निबल, ज्ञानी होते हुए अज्ञानी और चैतन्य होते हुए जड़ भी चाहे समझ लिए जाओ फिर भी किसी के ऐसा समझ लेने से तुम्हारी कोई हानि नहीं है क्योंकि द्वन्द स्थान में रहते हुए भी अब तुम में द्वन्दपना और

द्वैतपना नहीं रहा। जड़ और चैतन्य की परिभाषा अब तुम्हारे लिये निर्थक हो गई। वह केवल समझाने बुझाने के लिये गढ़ी गई थी। अब शरीर और आत्मा के शब्द की कोई मुख्यता नहीं रही। तुम भली भाँति जान गये कि उनका गोरख धंधा क्या था। अब उनकी व्याख्या की भी आवश्यकता जाती रही।

बिरह, प्रेम, ज्ञान, एकत्वभाव, उदासीनता और उन्मुनी अवस्था के पट चक्र तुम्हारे लिये मिट गये। अब तुम सत् के मण्डल या सतखण्ड में हो। सब अवस्थायें जाती रहीं और उनका अभाव हो गया। अब केवल तुम ही रह गये हो। इसी अवस्था का नाम सहज समाधि है। शरीर रहा तो क्या! न रहा तो क्या! इधर ध्यान भी नहीं है और ध्यान के न रहने से जन्म मरण भी नहीं है क्योंकि मन सत् (असलियत) में लय हो गया। यह अमन अवस्था कहलाती है। कुछ दिनों इसे पाकर जीवन मुक्ति का सुख रहता है। फिर विदेह मुक्ति की बारी आती है। मुक्ति का शब्द यहाँ हम केवल तुम्हारे समझने के लिये कह रहे हैं नहीं तो जब बन्धन ही नहीं रहा तो फिर मुक्ति कैसी! मुक्ति तो बद्ध पुरुष के लिये है। निर्बन्ध की मुक्ति कैसी।

इस प्रकार समझ बूझ के साथ साधन अवस्था से ऊपर जाकर सहज समाधि के पद में आरूढ़ हो रहना और रूप में स्थिर होना परमार्थ सुधार कहलाता है। हमने तुम को परमार्थ का रूप दिखा दिया। परमार्थ सुधार की युक्ति बतला दी। अब काम करना या न करना तुम्हारे हाथ की बात है। इससेअधिक कहना सुनना व्यर्थ है।

पूर्ण धनी हुजूर महाराज आशीर्वाद दें कि तुम इस छोटी पुस्तक को पढ़कर सर्व सम्पन्न और परमार्थी बन जाओ। मालिक से यह मेरी प्रार्थना है।

सत् पुरुष हुजूर महाराज के चरण कमल में

वन्दना

१—वन्दनम् सत् ज्ञान दाता ! वन्दनम् सत ज्ञान मय !
वन्दनम् निर्वाण राता ! वन्दनम् निर्वाण मय ॥ १ ॥

२—भक्ति मुक्ती योग युक्ती, आपके आधीन सब ।
आप ही हैं सिंध सद्गति, जीव जन्तू मीन सब ॥ २ ॥

३—आप सतगुरु गुरु दया और, प्रेम के भण्डार हैं ।
आप करता धरता हैं, कर्त्तार जग्दाधार हैं ॥ ३ ॥

४—ऋद्धि सिद्धी शक्ति नव निधि, है चरन में आपके ।
बच गया भव दुख से, जो आया शरन में आपके ॥ ४ ॥

५—भक्ति दीजे नाम की, सतनाम में विश्राम दे ।
राधास्वामी अपना कीजे, राधास्वामी धाम दे ॥ ५ ॥

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

Regd. No. A 808

हमारे यहाँ की पुस्तकें—

(१) मनुष्य बनो (हिन्दी) ॥=)
(२) विश्वशान्ति ,, ।)
(३) मानव धर्म प्रकाश (उर्दू) ... ... हिन्दी १॥)
(४) फ़क़ीर शब्दावली ,, ।=)
(५) सतविद्याप्रकाश ,, ।=)
(६) इब्रहीम अधम ,, ॥=)
(७) एक फ़क़ीर की घोषणा ... डाक खर्च सप्रेम अमल ...
(८) एक नादान और दाना ... फ़क़ीर की जीवनी हिन्दी ।)
(९) नय्यरे अनवर (उर्दू) ॥)
(१०) आवागमन ,, ॥)
(११) सदाये फ़क़ीर ,, ।=)
(१२) हयाते नौ ,, ।)
(१३) Truth by a true Faqir in English ।=)
(१४) Real Independence ।)
(१५) Independence Leaflets =)
(१६) महारामायण हिन्दी ३॥),५)
(१७) ,, ,, सिद्धि अनुभव खंड १॥)
(१८) विष्णु संहिता हिन्दी १॥)
(१९) शिव संहिता ,, १॥)
(२०) दयाल संहिता उर्दू ॥)
(२१) सुमेरु हिन्दी १॥)
(२२) गुटका शब्द संग्रह हिन्दी ।)
(२३) योगी हिन्दी =)
(२४) शगुन विद्या हिन्दी =)
(२५) दस अवतार तिरङ्गा =)
(२६) परमार्थ सुधार ॥)
(२७) उन्नति मार्ग ।)
(२८) Light on Anandyog ॥)
(२९) Message of Peace ॥=)

प्रकाशक व मैनेजर-मुन्शीलाल गोविल,
ऑनरेरी मजिस्ट्रेट, फ़र्स्ट क्लास,
"मनुष्य बनो" कार्यालय,
(दया ल कम्पाउण्ड, पंच जामाजी)
अलीगढ़ (उ०प्र०)

If undelivered please return to:-

"मनुष्य बनो" कार्यालय

दयाल कम्पाउण्ड, पंच जामाजी, अलीगढ़ (उ०प्र०)

ग्राहक संख्या .....
ग्रामान् ....

मुद्रक व प्रकाशक—मुन्शीलाल गोविल के लिए श्री गोपाल प्रेस हाथरस में मुद्रित।